तार सप्तक

संकलनकर्ता और सम्पादक

'अज्ञेय'

- **तार सप्तक**

  गजानन माधव मुक्तिबोध नेमिचन्द्र जैन भारतभूषण अग्रवाल प्रभाकर माचवे गिरिजाकुमार माथुर रामविलास शर्मा अज्ञेय (१९४३)

- **दूसरा सप्तक**

  भवानीप्रसाद मिश्र शकुन्त माथुर हरिनारायण व्यास शमशेर बहादुर सिंह नरेश मेहता रघुवीर सहाय धर्मवीर भारती। (१९५१)

- **तीसरा सप्तक**

  प्रयागनारायण त्रिपाठी कीर्ति चौधरी मदन वात्स्यायन केदारनाथ सिंह कुँवर नारायण विजयदेवनारायण साही सर्वेश्वरदयाल सक्सेना। (१९५९)

तार सप्तक

गजानन माधव मुक्तिबोध
नेमिचन्द्र जैन
भारतभूषण अग्रवाल
प्रभाकर माचवे
गिरिजाकुमार माथुर
रामविलास शर्मा
'अज्ञेय'



संकलनकर्ता एवं सम्पादक
'अज्ञेय'



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला ग्रन्थांक—२२९
सम्पादक एवं नियामक
लक्ष्मीचन्द्र जैन

●

[illegible] १९६६
सर्वाधिकार कवियों तथा सम्पादक [illegible]
भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा सुरक्षित

Lokodaya Series Title No. [illegible]
TAAR SAPTAK
(Poems)
Edited & Compiled By
AJNEYA
Bharatiya Jnanpith
Publication
Second Edition 1966
Price Rs 8.00



[illegible]
प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
प्रधान कार्यालय
९, अलीपुर पार्क प्लेस कलकत्ता—२७
प्रकाशन कार्यालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग वाराणसी ५
विक्रय-केन्द्र
३६२०/२१ नेताजी सुभाष मार्ग दिल्ली ६
द्वितीय संस्करण १९६६
मूल्य ८.००
सन्मति मुद्रणालय वाराणसी—५

परिदृष्टि प्रतिदृष्टि

[दूसरे संस्करणकी भूमिका]

'तार सप्तक' का प्रकाशन सन् १९४३ में हुआ था। दूसरे संस्करणकी यह भूमिका सन् १९६३ में लिखी जा रही है। बीस वर्षकी एक पीढ़ी मानी जाती है। वयस्‍क यात्राके अनिवार्य नियमके अधीन 'सप्तक' के सहयोगी जो १९४३ के प्रयोगी थे, सन् १९६३ के सन्दर्भमें दादा हो गये हैं। दिक्‍काल-जीवीको इसे नियति मानकर ग्रहण करना चाहिए, पर प्रयोग-शील कविके बुनियादी पैंतरेमें ही कुछ ऐसी बात थी कि अपनेको इस नये रूपमें स्वीकार करना उसके लिए कठिन हो। बूढ़े सभी होते हैं लेकिन बुढ़ापा किसपर कैसा बैठता है यह इसपर निर्भर रहता है कि उसका अपने जीवनसे, अपने अतीत और वर्तमानसे (और अपने भविष्यसे भी क्यों नहीं ?) कैसा सम्बन्ध रहता है। हमारी धारणा है कि 'तार सप्तक' ने जिन विविध नयी प्रवृत्तियोंको संकेतित किया था उनमें एक यह भी रही कि कविका युग-सम्बन्ध सदाके लिए बदल गया था। इस बातको ठीक ऐसे ही सब कवियोंने सचेत रूपमें अनुभव किया था, यह कहना झूठ होगा बल्कि अधिक सम्भव यही है कि एक स्पष्ट, सुचिन्तित विचारके रूपमें यह बात किसी भी कविके सामने न आयी हो। लेकिन इतना असन्दिग्ध है कि सभी कवि अपनेको अपने समयसे एक नये ढंगसे बँधे रहे थे। 'उत्पत्स्यते तु मम कोऽपि समानधर्मा' वाली पतीरा न किसी कविके लिए सम्भव रही थी न किसीको स्वीकार्य थी। सभी स्वयं पहले समानजीवी मानव प्राणी थे और समानधर्मा' का अर्थ उनके लिए 'कवि-धर्मी' से पहले मानव-धर्मा था। यह भेद किया जा सकता है कि कुछके लिए आधुनिक धर्मी होनेका आग्रह पहले था और अपना मानव

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला ग्रन्थांक–२२९

सम्पादक एवं नियामक

लक्ष्मीचन्द्र जैन

●

Lokodaya Series Title No 2 6

TAAR SAPTAK

(Poems)

Edited & Compiled By

AJNEYA

Bharatiya Jnanpith

Publication

Second Edition 1966

Price Rs 8 00

भारतीय ज्ञानपीठ

प्रकाशन

प्रधान कार्यालय

९, अलीपुर पार्क प्लेस कलकत्ता–२७

प्रकाशन कार्यालय

दुर्गाकुण्ड मार्ग वाराणसी–५

विक्रय केन्द्र

३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली ६

द्वितीय संस्करण १९६६

मूल्य ८ ०

सन्मति मुद्रणालय वाराणसी–५



परिदृष्टि प्रतिदृष्टि

[दूसरे संस्करणकी भूमिका]

तार सप्तक का प्रकाशन सन् १९४३ में हुआ था। दूसरे संस्करणकी यह भूमिका सन् १९६३ में लिखी जा रही है। बीस वर्षकी एक पीढ़ी मानी जाती है। वयमत्र याता के अनिवार्य नियमके अधीन 'सप्तक' के सहयोगी जो १९४३ के प्रयोगी थे, सन् १९६३ के सन्दर्भ हो गये हैं। दिक्काल जीवोंको इस नियति मानकर ग्रहण करना चाहिए पर प्रयोगशील कविके बुनियादी पैंतरेमें ही कुछ ऐसी बात थी कि अपने को इस नये रूपमें स्वीकार करना उसके लिए कठिन हो। बूढ़े सभी होते हैं लेकिन बुढ़ापा किसपर कैसा बनता है यह इसपर निर्भर रहता है कि उसका अपने जीवनमें अपने अतीत और वर्तमानसे (और अपने भविष्यसे भी क्यों नहीं ?) कैसा सम्बन्ध रहता है। हमारी धारणा है कि तार सप्तक ने जिन विविध नयी प्रवृत्तियोंको संकेतित किया था उनमें एक यह भी रही कि कविका युग सम्बन्ध सदाके लिए बदल गया था। इस बातको एक-से ही सब कवियोंने सचेत रूपमें अनुभव किया था, यह कहना झूठ होगा बल्कि अधिक सम्भव यही है कि एक स्पष्ट सुचिन्तित विचारके रूपमें यह बात किसी भी कविके सामने न आयी हो। लेकिन इतना असन्दिग्ध है कि सभी कवि अपनेको अपने समयसे एक नये रिश्तेसे बाँध रहे थे। 'उत्पत्स्यते तु मम कोऽपि समानधर्मा' वाली पैंतरा न किसी कविके लिए सम्भव रहा था न किसीको स्वीकार्य था। सभी सबसे पहले समानधर्मा मानव प्राणी थे और 'समानधर्मा' का अर्थ उनके लिए कवि-धर्मा से पहले मानव-धर्मा था। यह भेद किया जा सकता है कि कुछके लिए आधुनिक धर्मा होनेका आग्रह पहले था और अपना मानव

धर्मिताको वह आधुनिकतासे अलग नहीं देख सकते थे, और दूसरे कुछ ऐसे थे जिनके लिए आधुनिकता मानव धर्मिताका एक आनुषंगिक पहलू अथवा परिणाम था।

सप्तकके कवियोंका विकास अपनी अपनी अलग दिशाओंमें हुआ है। सृजनशील प्रतिभाका धर्म है कि वह व्यक्तित्व ओढ़ता है। सृष्टियाँ जितनी भिन्न होती हैं स्रष्टा उससे कुछ कम विशिष्ट नहीं होते बल्कि उनके व्यक्तित्वकी विशिष्टताएँ ही उनकी रचनाओंमें प्रतिबिम्बित होती हैं। यह बात उनपर भी लागू होती है जिनकी रचना प्रबल वैचारिक आग्रह लिए रहती है जबतक कि वह रचना है निरा वैचारिक आग्रह नहीं है। कोरे वैचारिक आग्रहोंमें अवश्य ऐसी एकरूपता हो सकती है कि उसमें व्यक्तित्वोंको पहचानना कठिन हो जाये। जैसे शिरोभूषाके ऊपर रीति हावी हो सकती है वैसे ही मताग्रह पर भी रीति हावी हो सकती है। सप्तकके कवियोंके साथ ऐसा नहीं हुआ—सम्पादककी दृष्टिमें यह उनकी अलग अलग सफलता (या कि स्वस्थता) का प्रमाण है। स्वयं कवियोंकी राय इससे भिन्न भी हो सकती है—वे जानें।

इन बीस वर्षोंमें सातों कवियोंका परस्पर अपरिचितिमें विशेष अन्तर नहीं आया है। सबकी सम्भावनाएँ अवश्य उपलब्धियोंमें परिणत हो गयी हैं—सभी वयसमें भी अब वृद्ध हो गये हैं। पर इन सात नये ध्यानी बुद्धोंके परस्पर सम्बन्धोंमें विशेष अन्तर नहीं आया है। अब भी उनके बारेमें उतनी ही सच्चाईके साथ कहा जा सकता है कि उनमें मतैक्य नहीं है, सभी महत्त्वपूर्ण विषयोंपर उनकी राय अलग अलग है—जीवनके विषयमें, समाज और धर्म और राजनीतिक विषयमें, काव्य वस्तु और शैलीके, छन्द और तुकके, कविके दायित्वोंके—प्रत्येक विषयमें उनका आपसमें मतभेद है। और यह बात भी उतनी ही सच है कि 'वे सब परस्पर एक-दूसरेपर, दूसरेकी रुचियों, कृतियों और आशाओं विश्वासोंपर और यहाँतक कि एक दूसरेके मित्रों और कुत्तोंपर भी हँसते हैं।' (सिवा इसके कि इन पंक्तियोंके लिखते समय सम्पादकको जहाँतक ज्ञात है कुत्ता किसी कविके

पास नहीं है और हँसीकी पहलेकी सहजतामें कभी कुछ व्यंग्य या विद्रूपका भाव भी आ जाता होगा!)।

ऐसी परिस्थितिमें ऐसा बहुत कम है जो निरपवाद रूपसे सभी कवियोंके बारेमें कहा जा सकता है। वे सबके इतने भिन्न हैं कि सबको किसी एक सूत्रमें गूँथनेका प्रयास व्यर्थ ही होगा। कदाचित् एक बात—मात्रा-भेदकी गुंजाइश रखकर—सबके बारेमें कहा जा सकता है: सभी चकित हैं कि 'तार सप्तक'ने समकालीन काव्य-इतिहासमें अपना स्थान बना लिया है। प्रायः सभीने यह स्वीकार भी कर लिया है। अपने कार्यकी या प्रगतिका मूल्यांकन जो भी जैसा भी कर रहा हो, जिसकी वर्तमान प्रवृत्ति जो हो, सभीने यह स्थिति लगभग स्वीकार कर ली है कि उन्हें नगरके चौकमें खम्भेसे या मार्गके पत्थरसे, बाँधकर नमूना बनाया जाय: 'यह देखो और इससे शिक्षा ग्रहण करो!' कमसे कम एक कविका मुखर भाव ऐसा है और कदाचित् दूसरोंके मनमें भी अव्यक्त रूपसे हो, कि अच्छा होता अगर मान लिया जा सकता कि वह 'तार सप्तक'में सम्मिलित था ही नहीं। इतिहास अपने चरित्रों या कठपुतलियोंको इतनी स्वतन्त्रता नहीं देता कि वह स्वयं अपनेको 'न हुआ' मान लें। फिर भी मनका ऐसा भाव लक्ष्य करने लायक और नहीं तो इसलिए भी है कि जो परवर्ती साहित्यपर एक मन्तव्य भी तो है ही—समूचे साहित्यपर नहीं तो कमसे कम 'सप्तक'के अन्य कवियोंकी कृतियोंपर (और उनसे प्रभावित दूसरे लेखकोंपर) तो अवश्य ही। असम्भव नहीं कि संकलित कवियोंको अब इस प्रकार एक दूसरेसे सम्पृक्त होकर लोगोंके सामने उपस्थित होना कुछ अनुचित या असमंजसकारी लगता हो। लेकिन ऐसा है भी तो उस असमंजसके बावजूद वे इस सम्पर्कको सह लेनेको तैयार हो गये हैं, इसे सम्पादक अपना सौभाग्य मानता है। अपनी ओरसे वह यह भी कहना चाहता है कि स्वयं उसे इस सम्पृक्तिसे कोई संकोच नहीं है। परवर्ती कुछ प्रवृत्तियाँ उसे हीन अथवा आपत्तिजनक भी जान पड़ती हैं, और निस्सन्देह इनमेंसे कुछका सूत्र 'तार सप्तक'से जोड़ा जा सकता

है या जोड़ दिया जायगा। तथापि सम्पादककी धारणा है कि तार सप्तक ने अपने प्रकाशनका औचित्य प्रमाणित कर लिया। उसका पुनर्मुद्रण केवल एक ऐतिहासिक दस्तावेजको उपलब्ध बनानेके लिए नहीं बल्कि इसलिए भी संगत है कि परवर्ती काव्य प्रगतिको समझनेके लिए उसको पढ़ना आवश्यक है। इन सात कवियोंका एकत्रित होना अगर केवल संयोग भी था तो भी वह ऐसा ऐतिहासिक संयोग हुआ जिसका प्रभाव परवर्ती काव्य विकासमें दूर तक व्याप्त है।

इसी समकालीन अर्थवत्ताकी पुष्टिके लिए प्रस्तुत संस्करणको केवल पुनर्मुद्रण तक सीमित न रखकर नया संवर्द्धित रूप देनेका प्रयत्न किया गया है। 'तार सप्तक' के ऐतिहासिक रूपकी रक्षा करते हुए जहाँ पहलेकी सब सामग्री—काव्य और वक्तव्य—अविकल रूपसे दी जा रही है वहाँ प्रत्येक कविसे उसकी परवर्ती प्रवृत्तियोंपर भी कुछ विचार प्राप्त किये गये हैं। सम्पादकका विश्वास है कि यह पुनरवलोकन प्रत्येक कविके कृतित्वको समझनेके लिए उपयोगी होगा और साथ ही तार सप्तक के पहले प्रकाशनसे अबतकके काव्य विकासपर भी नया प्रकाश डालेगा। एक पीढ़ीका अन्तराल पार करनेके लिए प्रत्येक कविकी कमसे कम एक एक नयी रचना भी दे दी गयी है। इसी नयी सामग्रीको प्राप्त करनेके प्रयत्नमें सप्तक इतने वर्षों तक अनुपलब्ध रहा। जिनके देर करनेका डर था उनसे सहयोग तुरत मिला, जिनकी अनुकूलताका भरोसा था उन्होंने ही सबसे देर की—आलस्य या उदासीनताके कारण भी, असमंजसके कारण भी और शायद अनभिव्यक्त आक्रोशके कारण भी। 'जो पास रहे वे ही तो सबसे दूर रहे'! सम्पादकने यह हठधर्मिता (या कि बेहयाई?) ओढ़ी होती जो पत्रकारिता (और सम्पादन) धर्मका अंग है तो सप्तक का पुनर्मुद्रण कभी न हो पाता। यह जहाँ अपने परिश्रमकी व्याख्या है वहाँ अपनी हीनतर स्थितिकी स्वीकार भी है।

पुस्तकके बहिरंगके बारेमें अधिक कुछ कहना आवश्यक नहीं है। पहले संस्करणमें जो आदर्शवादिता झलकती थी उसकी

छाया कम-से-कम सम्पादकपर अब भी है, किन्तु काव्य-प्रकाशनके व्यावहारिक पहलूपर नया विचार करनेके लिए अनुमतन समझा जाय किया है। पहले संस्करणमें 'उपलब्धि' के नामपर कवियोंको केवल पुस्तककी कुछ प्रतियाँ ही मिलीं थीं; जो कुछ उपलब्धि हुई वह भौतिक नहीं थी। 'सम्भाव्य आयको इसी प्रकारके दूसरे संकलनमें लगाने'का विचार भी उत्तम होते हुए भी वर्तमान परिस्थितिमें अनावश्यक हो गया है। रूप-सज्जाके बारेमें भी स्वीकार करना होगा कि नये संस्करणपर परवर्ती 'सप्तकों'का प्रभाव पड़ा है। जो जनता की अनुरूपताके प्रति विद्रोह करते हैं, वे प्रायः पाते हैं कि उन्होंने साधारण अनुरूपता पहलेसे स्वीकार कर ली थी। विद्रोहकी ऐसी विस्मरणता कर सकना इतिहासके उन बुनियादी अधिकारोंमें से है जिसका वह बड़े निर्ममत्वसे उपयोग करता है। नये संस्करणमें उपलब्धि कुछ तो होगी ऐसी आशा की जा सकती है। उसका उपयोग कौन कैसे करेगा यह जानना ध्यानमें होकर कवियोंके विवेकपर छोड़ दिया गया। वे चाहें तो उसे 'तार सप्तक'का प्रभाव मिटानेमें या उसकी समग्र छाप भी डालनेमें भी लगा सकते हैं।

—'अज्ञेय'

विवृत्ति और पुरावृत्ति

[प्रथम संस्करणकी भूमिका]

तार सप्तक में सात युवक कवियों (अथवा कवि-युवकों) की रचनाएँ हैं। ये रचनाएँ कैसे एक जगह संग्रहीत हुईं, इसका एक इतिहास है। कविता या संग्रहके विषयमें कुछ कहनेसे पहले उस इतिहासके विषयमें जान लेना उपयोगी होगा।

दो वर्ष हुए जब दिल्लीमें अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन की आयोजना की गयी थी। उस समय कुछ उत्साही बन्धुओंने विचार किया कि छोटे-छोटे फुटकर संग्रह छापनेके बजाय एक संयुक्त संग्रह छापा जाय क्योंकि छोटे छोटे संग्रहोंको पहले तो छपाई एक समस्या होती है, फिर छपकर भी वे सागरमें एक बूँद-से खो जाते हैं। इन पंक्तियोंका लेखक 'योजना विश्वासी' के नामसे पहले ही बदनाम था, अतः यह नयी योजना तत्काल उसके पास पहुँची और उसने अपने नाम ('बदनाम होंगे तो क्या नाम न होगा!') के अनुसार उसे स्वीकार कर लिया।

आरम्भमें योजनाका क्या रूप था, और किन किन कवियोंकी बात उस समय सोची गयी थी यह अब प्रसंगकी बात नहीं रही। किन्तु यह सिद्धान्त रूपसे मान लिया गया था कि योजनाका मूल आधार सहयोग होगा, अर्थात् उसमें भाग लेनेवाला प्रत्येक कवि पुस्तकका साझी होगा। चन्दा करके इतना धन उगाहा जायगा कि कागजका मूल्य चुकाया जा सके, छपाईके लिए किसी प्रेसका सहयोग माँगा जायगा जो बिक्रीकी प्रतीक्षा कर या चुकाईमें छपी हुई प्रतियाँ ले ले। दूसरा मूल सिद्धान्त यह था कि संगृहीत कवि सभी ऐसे होंगे जो कविताको प्रयोगका विषय मानते हैं—जो यह दावा नहीं करते कि काव्यका सत्य उन्होंने पा लिया है, केवल अन्वेषी ही अपनेको मानते हैं।

इस आधारपर संग्रहको व्यावहारिक रूप देनेका दायित्व मेरे सिरपर डाला गया।

तार सप्तक का वास्तविक इतिहास यहींसे आरम्भ होता है, किन्तु

जब कह चुका हूँ कि इसकी बुनियाद सहयोगपर रखी हुई तब उसकी कमीकी शिकायत करना उचित नहीं होगा। वह हम लोगोंकी आपसकी बात है—पाठकके लिए सहयोगका इतना प्रमाण काफी है कि पुस्तक छपकर उसके सामने है।

अनेक परिवर्तनोंके बाद जिन सात कवियोंकी रचनाएँ देनेका निश्चय हुआ उनसे हस्तलिपियाँ प्राप्त करते करते साल भर बीत गया। फिर पुस्तकके प्रेसमें दिये जानेपर प्रेसमें गड़बड़ हुई और मुद्रक महोदय कागज भी हजम कर गये। साथ ही आधी पाण्डुलिपि रलगानेम खो गयी और संकोचवश इसकी सूचना भी किसीको नहीं दी जा सकी।

कुछ महीनों बाद जब कागज खरीदनेके साधन फिर जुटनेकी आशा हुई तब फिर हस्तलिपियोंके संग्रह करनेके प्रयत्न आरम्भ हुए और छह महीनोंकी दौड़धूपके बाद पुस्तक फिर प्रेसमें गयी। अब छपकर वह पाठकके सामने आ रही है। इसकी बिक्रीसे जो आमदनी होगी वह पुनः इसी प्रकारके किसी प्रकाशनमें लगायी जायगी, यही सहयोग-योजनाका उद्देश्य था—केवल प्रकाशन, चाहे काव्य हो, चाहे और कुछ। पुस्तकका दाम भी इतना रखा गया है कि बिक्रीसे लगभग उतनी ही आय हो जितनी कि पूँजी उसमें लगी है, ताकि दूसरे ग्रन्थकी व्यवस्था हो सके।

यह तो हुआ प्रकाशनका इतिहास। अब कुछ उसके अन्तरंगके विषयमें भी कहूँ।

तार सप्तकमें सात कवि संगृहीत हैं। सातों एक दूसरेके परिचित हैं—बिना इसके इस ढंगका सहयोग कैसे होता? किन्तु इससे यह परिणाम न निकाला जाय कि वे कविताके किसी एक 'स्कूल'के कवि हैं, या कि साहित्य-जगत्के किसी गुट अथवा दलके सदस्य या समर्थक हैं। बल्कि उनके तो एकत्र होनेका कारण ही यही है कि वे किसी एक स्कूलके नहीं हैं, किसी मंजिलपर पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं—राही नहीं, राहोंके अन्वेषी। उनमें मतैक्य नहीं है, सभी महत्त्वपूर्ण विषयोंपर उनकी राय अलग-अलग है—जीवनके विषयमें, समाज और धर्म और राजनीतिके विषयमें, काव्य-वस्तु और शैलीके, छन्द और तुकके, कविके दायित्वोंके—प्रत्येक विषयमें उनका आपसमें मतभेद है। यहाँतक कि हमारे जगत्के ऐसे सर्वमान्य और स्वयंसिद्ध मौलिक सत्योंको भी वे समान रूपसे स्वीकार

नहीं करते जैसे लोकतन्त्रकी आवश्यकता, उद्योगोंका समाजीकरण, यान्त्रिक युद्धकी उपयोगिता, वनस्पति घीकी बुराई, अथवा काननबाला और सहगलके गानोंकी उत्कृष्टता इत्यादि। वे सब परस्पर एक-दूसरेपर, एक-दूसरेकी रुचियों-कृतियों और आशाओं-विश्वासोंपर, एक-दूसरेकी जीवन परिपाटीपर और यहाँतक कि एक-दूसरेके मित्रों और कुत्तोंपर भी हँसते हैं। 'तार सप्तक' का यह संस्करण करते वक्त नहीं है, अतः आशा की जा सकती है कि उसके पाठक उन्हें न्यूनाधिक मात्रामें एकान्तिक कविसे परिचित होंगे, तब वे जानेंगे कि 'तार सप्तक' किसी गुटका प्रकाशन नहीं है क्योंकि संगृहीत सातों कवियोंके साथ-साथ अलग-अलग छुटे हैं, उनके साथ-साथ व्यक्तित्व—साथ-साथ यह कि एकका अपने कवि व्यक्तित्वके ऊपर संकलनकर्ताका आधा छद्म-व्यक्तित्व और लादना पड़ा है।

ऐसा होते हुए भी वे एकत्र संगृहीत हैं, इसका कारण पहले बताया जा चुका है। काव्यके प्रति एक अन्वेषीका दृष्टिकोण उन्हें समानताके सूत्रमें बाँधता है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि प्रस्तुत संग्रहकी सब रचनाएँ प्रयोगशीलताके नमूने हैं, या कि इन कवियोंकी रचनाएँ रूढ़िसे अछूती हैं, या कि केवल यही कवि प्रयोगशील हैं और बाकी सब घास छीलनेवाले, वैसा दावा यहाँ कदापि नहीं। दावा केवल इतना है कि ये सातों अन्वेषी हैं। 'तार सप्तक' कैसे एकत्र हुआ, इसका उत्तर यह है कि परिचित और सहकार-योजनाने इसे ही सम्भव बनाया। इस नाते तीन-चार और नाम भी सामने आये थे, पर उनमें वह प्रयोगशीलता नहीं थी जिसे कसौटी मान लिया गया था, यद्यपि संग्रहपर उनका भी नाम होनेसे उसकी प्रतिष्ठा बढ़ती ही, घटती नहीं। संगृहीत कवियोंमें-से ऐसा कोई भी नहीं है जिसकी कविता केवल उसके नामके सहारे खड़ी हो सके। सभी इसके लिए तैयार हैं कि अभी कसौटी हो, क्योंकि सभी अभी उस परमतत्त्वकी खोजमें ही लगे हैं जिसे पा लेनेपर कसौटीकी जरूरत नहीं रहती, बल्कि जो कसौटियोंकी ही कसौटी हो जाता है।

संग्रहके बहिरंगके बारेमें भी कुछ कहना आवश्यक है। इधर कविता प्रायः चारों ओर बेल-बूटे हाशिये देकर सुन्दर सजावटके साथ छपती रही है। अगर कविताको शब्दोंकी मीनाकारी ही मान लिया जाय तब यह संगत भी है। 'तार सप्तक' की कविता वैसी जड़ाऊ कविता नहीं है, वह

कमी हो भी नहीं सकती। ज़माना था जब तलवारें और तोपें भी जड़ाऊ होती थीं, पर अब गहने भी धातुको साँचोंमें ढालकर बनाये जाते हैं और हीरे भी तप्त धातुके सिकुड़नेके दबावसे बँधे हुए रहते हैं! तार सप्तकमें रूप सज्जाको गौण मानकर अधिकसे अधिक सामग्री देनेका उद्योग किया गया है। इसे पाठकके प्रति ही नहीं, लेखकके प्रति भी कर्त्तव्य समझा गया है, क्योंकि जो कोई भी जनताके सामने आता है वह अन्ततः दावेदार है, और जब दावेदार है तो अपने पक्षके लिए उसे पर्याप्त सामग्री लेकर आना चाहिए। योजना थी कि प्रत्येक कवि साधारण छापेका एक फ़ार्म दे (अथवा) लेगा, इस बड़े आकारमें जितनी सामग्री प्रत्येककी है वह एक फ़ार्मसे कम नहीं है। इन बातोंको ध्यानमें रखते हुए मानना पड़ेगा कि तार सप्तकमें उतने ही दामोंमें तीन पुस्तकोंकी सामग्री सस्ते और सुलभ रूपमें दी जा रही है।

और यदि पाठक सोचे कि ऐसा प्रचार प्रकाशकोचित है, सम्पादकोचित नहीं, तो उसका उत्तर स्पष्ट है कि इस सहयोगी योजनामें तार सप्तकके लेखक ही उसके प्रकाशक और सम्पादक भी हैं और अपने-अपने जीवनीकार भी और प्रवचना भी। और (यह धृष्टता नहीं है, केवल अपने कर्मका फल भोगनेकी तत्परता है!) वे सभी इसके लिए भी तैयार हैं कि तार सप्तकके पाठक वे ही रह जायें! क्योंकि जो प्रयोग करता है उसे अविदित विषयका भय नहीं होना चाहिए।

कवियोंका अनुक्रम किसी हद तक आकस्मिक है, जहाँ यह इच्छित है वहाँ उसका उद्देश्य यही रहा है कि कुल सामग्रीको सर्वाधिक प्रभावोत्पादक क्रमसे उपस्थित किया जाय। संकलनकर्त्ता अन्तमें आता है क्योंकि वह संकलनकर्त्ता है। अनुक्रम मात्रसे कवियोंके परस्परोत्कर्षके बारेमें कोई परिणाम निकालना या उस विषयमें संकलनकर्त्ताकी सम्मतिकी खोज लगाना भूल होगा।

— 'अज्ञेय'

तार सप्तक

● ● ●

नेमिचन्द्र

•

[नेमिचन्द्र : जन्म आगरेमें अगस्त १९१८ में हुआ। वहीं शिक्षा पायी और सन् १९४१ में एम० ए० पास किया। उसके बाद एक वर्ष तक शुजालपुरमें शिक्षकका काम किया, अब कलकत्तेमें हूँ। नवम्बर १९४२ में कलकत्तेके एक मारवाड़ी दफ्तरमें किरानी हूँ, आगेकी राम जाने। विवाहित।

लिखना सातवीं कक्षासे प्रारम्भ किया। कहानियाँ और गद्यकाव्य भी लिखा पर मुख्यतया कविता ही लिखी। पिछले दो चार सालसे आलोचनात्मक निबन्ध भी। लिखना मूडपर आश्रित है, अतः बहुत अधिक नहीं लिखा है। पत्र-पत्रिकाओंमें रचनाएँ छपती रही हैं, पुस्तकाकार अभी नहीं।

पढ़नेमें विशेष दिलचस्पी है। राजनीतिमें भी—क्रियात्मक रूपसे। मार्क्सवादी और कम्युनिस्ट भी। संगीतमें भी रुचि है। बन्दूकसे निशाना लगाने और घोड़ेपर सवारी करनेमें बड़ा आनन्द आता है, पर कलकतिया किरानी इसके पर्याप्त साधन नहीं पाता, अतः भ्रमणके लिए उत्सुक बना रहता हूँ। जब भी वक्त मिले और साधन हों तो घूमना पसन्द करता हूँ।

*

१९४३ से—

इस अवधिमें जीवनमें काफ़ी उथल-पुथल रही। सन् १९४६-५० बम्बईमें पीपुल्स थियेटर एसोसिएशन (इप्टा) की नृत्य-मण्डलीके साथ और १९५०-५४ तक दिल्लीमें तरह-तरहके पापड़ बेले। (प्रतीक का सहायक सम्पादकत्व इन्हींमेंसे एक तरह है।) सन् १९५४ से दिल्लीमें संगीत नाटक अकादमीसे सम्बद्ध हूँ, १९५९ में अकादमीके अधीन राष्ट्रीय नाट्य विद्यालयमें नाट्य-साहित्य पढ़ाता हूँ।

लिखना अभी तक वैसा ही अनियमित है। बेकार अनुवाद शायद अनिश्चित रूपसे बीच-बीचमें कविता और बहुत-कुछ आलोचना लिखी ही जाती रही। अभी तक पुस्तकाकार मौलिक कुछ नहीं छपा, यद्यपि अब कुछ दिनोंसे इसकी आशा बहुत बढ़ गयी है।

रुचि भी बदली है। संगीत, नृत्य और नाटकका शौक हावी रहा और है। राजनीति छूट तो नहीं गया, उस क्षेत्रके सर्वव्यापी हीन सिद्धान्त और आत्महीनताके कारण उसमें अरुचि हो गयी। अब न मार्क्सवादी हूँ न कम्युनिस्ट, क्योंकि शायद वयस्क हो गये हैं और हर प्रकारकी वादिताके दमघोटू प्रभावको पहचानने लगे हैं।]



वक्तव्य

कुछ कविताएँ पाठकोंके सामने प्रस्तुत हैं। उनके नये रूप और स्वरको पहचानने और मूल्यांकन पाठक स्वयं करेंगे। इसलिए उनके बारेमें कुछ भी कहना यहाँ मेरा इष्ट नहीं। किन्तु तीव्रतम संघर्षके इस युगमें अनेक बाहरी दबावोंके कारण जब व्यक्ति टुकड़े-टुकड़े होकर बँट जाता है, जब बुद्धि और हृदय, आदर्श और व्यवहार, विवेक और कर्म किसीमें परस्पर सामंजस्य नहीं बचता, तब चार-छह कविताओंके सहारे कविके व्यक्तित्वकी सम्पूर्ण उपलब्धि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य होती है। और मेरा विश्वास है कि कलाकी अंतिम सार्थकता कलाकारके व्यक्तित्वके सहारे ही दिया जा सकता है। इसलिए कविके भावना-जगतकी अनेकानेक विविधताओंमें-से एकसूत्रता यदि सम्भव हो तो पाठकके लिए सुलभ कर सकना ही इस वक्तव्यकी सार्थकता हो सकती है।

प्रस्तुत कविताओंमें-से अधिकांशकी मानसिक पृष्ठभूमिमें संक्रान्तिके रंगकी ही प्रधानता है। संस्कार और विवेककी कशमकशकी चेतना ही इन कविताओंका विषय है। मनको बाहरी जगतकी अनेक बातोंमें सन्तोष नहीं है, उसके संस्कार पग-पगपर किसी दीवारसे टकरा जाते हैं। किन्तु जब इस टकराहटसे बचनेका मार्ग वह खोजने चलता है तो अपने आपको और भी अकेला बना लेता है। तीव्र श्रम-विभाजनके फलस्वरूप आज हर-एक आदमीकी जिन्दगी एक इकाई बन गयी है जिसे साधारणतः ऊपरसे देखनेपर भ्रम होता है कि वह अपने आपमें सम्पूर्ण है, जबकि सच यह है कि उसी विभाजनके फलस्वरूप परस्पर सहयोगिता और निर्भरता असाधारण रूपसे बढ़ गयी है। किन्तु विवेक चाहे जितना स्पष्ट सत्यको सामने रखे, आजके व्यक्तिका मन प्रत्येक समस्याको सामने पाकर अपने किसीकी गोदमें मुँह दुबका लेना चाहता है, अपने भीतर ही आत्मस्थ हो रहना चाहता है। प्रस्तुत कविताओंके पीछे विवेक द्वारा इस आत्मस्थ मनको चाहकी परखनेकी प्रवृत्ति ही कविता है। अपने संस्कारों और भावनाओंके जालको वह समस्याओंको सुलझानेके सही मार्गपर—अर्थात् एक सामूहिक प्रयत्नके द्वारा उनका समाधान पानेके मार्गपर—जानेमें अपनी असमर्थताको

बार-बार अपने विचारके द्वारा चीर-फाड़ डालना चाहता है। उसके मनका सारा संघर्ष इसी निष्ठुर वृत्तिसे ही उगा है।

इसके अतिरिक्त कुछ कविताओं जैसे अनजाने चुपचाप या डूबना संध्या में केवल सौन्दर्यानुभूतिकी ही अभिव्यक्ति है। वे उन क्षणोंकी सृष्टि हैं जब मन संघर्षसे भागा नहीं है। पर तो भी संघर्षके अतिरिक्त जीवनमें भव्य और आनन्ददायक भी जो कुछ है उसमें कविका मन अभिभूत हो उठा है।

मेरा विश्वास है कि सौन्दर्यका आकर्षण पलायन की ही प्रवृत्तिका सूचक सदैव नहीं होता। साहित्यिक आलोचनामें आजकल यह शब्द अनेक प्रकारके वाद-विवादोंका विषय बन गया है। किन्तु सौंदर्यकी अनुभूति तो जागरूकताकी, जीवनकी स्वीकृतिका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण चिह्न है। जिस व्यक्तिमें सौन्दर्यबोध अत्यन्त क्षीण है उसे किस हदतक जीवित कहा जायगा यह कहना कठिन है। सौन्दर्यकी अनुभूति तो व्यक्तित्वको और भी समन्वित और सशक्त बना देती है। पलायनवादी साहित्य वे होंगे जिसमें साहित्यकार एक प्रकारके सौन्दर्याभासकी कल्पना द्वारा अपने दायित्वसे भागता है, जो सौन्दर्यके प्रति सचमुच आकृष्ट नहीं है बल्कि जो सौन्दर्यको अपनी दायित्वहीनताकी एक आड़ बनाना चाहता है। यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ जैसे व्यक्ति सचमुच सौन्दर्यपूजक होनेके कारण ही आजके अधिकांश प्रगतिवादियोंसे अधिक ईमानदार और जीवन्त थे।

साहित्यमें प्रगतिवादितामें मेरा विश्वास है और उसके लिए एक सचेष्ट प्रयत्नका भी मैं पक्षपाती हूँ। किन्तु कलाकी सच्ची प्रगतिशीलता कलाकारके व्यक्तित्वकी सामाजिकतामें है व्यक्तिगततामें नहीं। आज चारों ओर प्रगतिका प्रचार करनेकी आवश्यकता इसीलिए हो गयी है कि वर्गीकरण और [illegible] हो चला है। अनजानेमें सामाजिक राजनीतिक वातावरण जाने अनजाने कलाकारको अपने [illegible] का शिकार होता है। इसलिए वह अपने व्यक्तित्वकी विशिष्टताओंकी सामाजिकता खो चुका है। वर्तमान सामाजिक व्यवस्थाके संघर्षोंसे भ्रमित वह सचेत नहीं हो पाता। किन्तु इसलिए यह बात स्पष्ट है कि कविके प्रगतिवादी होनेका मतलब यह है कि वह जीवनकी ओर अपने दृष्टिकोणको बदले। अपने ही सामाजिक शान्ति और ईमानदारीसे नहीं बल्कि अपने भीतरसे भी सामाजिक मनुष्य बने।

यह बात दुहरानेकी आवश्यकता नहीं होनी चाहिए कि कविपर भी अन्य व्यक्तियोंकी भाँति एक नागरिक और सामाजिक दायित्व है। वह सबका ही रहा है और कवि सबका ही एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक कर्तव्य पूरा करता आया है। पर आज यह महत्त्वपूर्ण स्थान कविसे सतत श्रम विभाजनके कारण निकल गया है। और वह अधिकाधिक आत्मकेन्द्रित और अहंकारी बनता जा रहा है। वास्तविकताकी चोटसे वह जब बच पाता है तो वह और भी अपने आपमें सिकुड़ रहना चाहता है। फलस्वरूप उसका अपना आन्तरिक द्वन्द्व और भी बढ़ जाता है उसकी अन्तश्चेतनामें दरार पड़ जाती है जिसकी छाया उसकी कवितापर पड़ती रही है। इसलिए आजके हिन्दीके अधिकांश काव्यमें या तो उच्छ्वास है या फिर पलायन। दूसरे शब्दोंमें या तो व्यक्तिको अपनेसे अवकाश नहीं या वह बाहिर जानेमें डरता, डरता है कि भीतर सबको रखनेकी क्षमता नहीं। दोनों ही रास्तोंसे कविताकी हत्या होती है।

समस्या इसीसे यहाँ है कि बिना सचेष्ट नागरिक वास्तवमें हुए कवि अधिक देर तक कवि नहीं रह सकता। राजनैतिक सामाजिक शक्तियाँ वह चाहे या न चाहे उसे आकर घेर ही जायेंगी। किन्तु यदि वह विवेकपूर्वक उनका सामना करता है तो वह अपने काव्यको न केवल सच्चा बना सकेगा बल्कि उसे मानवताकी मुक्तिके लिए एक बड़ा भारी अस्त्र बना सकेगा क्योंकि स्वभावसे ही कवि मानव शक्तिका आराधक है। इसीसे आज निरा कवि कोई कलाकार नहीं।

इस स्थापनाकी सचाई एक और तरहसे भी परखी जा सकती है। ज्यों-ज्यों श्रम-विभाजनके फलस्वरूप कविके मनकी दुनिया और सिमटती गयी है त्यों-त्यों कविता विशेषकर कविता अपना महत्त्व खोती रही है। और आज परिस्थिति यह है कि अच्छे-से अच्छे लोग कविताके भविष्यके बारेमें बहुत सन्दिग्ध हैं। किन्तु इस सन्देहकी जड़ भी कविके व्यक्तित्वके सामाजिक आधारको न समझ पानेमें छिपी है। यदि व्यक्तित्वमें बार-बार पड़ती जानेवाली इन दरारोंका सामाजिक विश्लेषण सामने रहे तो कविताके भविष्यका एक दूसरा ही चित्र उपस्थित होगा। जिस दिन व्यक्ति कवि सचेष्ट भावसे इन पुराने-पुराने सम्बन्धोंके आन्तरिक विरोधको सुलझाकर अपनी चेतनाको पूरी तरह सामाजिक बना सकेगा उस दिन कविता फिर अपने प्रकृत रूपमें निखर उठेगी। बल्कि बहुत दिनों बाद फिर उसी दिन सच्ची कविता जन्म ले सकेगी।

नेमिचन्द्र

\+ + +

कला साहित्य कविताके बारेमें इन सब लम्बी चौड़ी बातोंका आज इन प्रस्तुत कविताओंसे मार्जें यह तात्पर्य मेरा नहीं है। संक्रान्ति-कालमें कविता इतिहासका वाहन है। अपना मार्ग पहचाननेके लिए और फिर उसी पर चल सकनेके लिए मध्यमवर्गीय प्राणी कविको निरन्तर बुद्धिका ही महतावना पड़ता है। शायद इसीलिए इस समय श्रेष्ठ कविता अभी हिन्दीके लिए सम्भव नहीं है। अधिकसे अधिक अगर कवि अपने मनकी बेईमानीको भी ईमानदारीसे लेकर दुनियाके आगे रख सके तो वह बहुत है। क्योंकि इस तरहसे न केवल वह अपने व्यक्तित्वके विरोधको मिटानेके संघर्षका आरम्भ स्पष्ट करता है बल्कि साथ ही वह आनेवाली पीढ़ियोंके लिए एक नयी पगडण्डी तैयार करता चलता है जिसे खूँदीकर किसी दिन शायद प्रशस्त राजमार्ग निर्मित हो सके।

—नेमिचन्द्र

कवि गाता है

कवि गाता है—
सक्रांति काल का कलाकार कवि—गाता है।
देख चाँदनी रातें कवि का नाच उठा उर,
स्वप्नदेश की परियों के गायन से उसका गूँज उठा स्वर,
आधी मुँदी हुई पलकों में
मदिरा सा किस छवि का मीठा भार लिये,
वह बेसुध-सा है,
उसके नयनों में झूल रही किस रूप-परी की सघन याद,
उसके मन में कितनी पीड़ा, उसके मन में कितना विषाद!
और तभी वह गा उठता है
गीले गाने,
असफलता के, प्यार प्रीति के, अपने दुख के—
कुछ बेमाने, कुछ अनजाने।
फूट उठा है उसका उर,
वह गाता है
सक्रान्ति काल का
पीड़ित मानवता के युग का कलाकार कवि
गाता है!

कभी यहाँ आते हैं कोई बड़े राज्य के राजा साहब,
कितने दानी!
कभी प्रान्त के आते हैं सरकारी अफसर,
या कोई जनता के 'लीडर'
जो होते हैं सभी कला-कविता के प्रेमी—

कितने ज्ञानी !
उन सबके स्वागत में
जब-तब किसी सेठ के घर होती ही रहती है
दावत मेहमानी ।
कवि भी आमंत्रित होता है,
वह भी आये,
राजा साहब अफसर, या जनता के 'लीडर'—
(या वह जो हो !)—
के स्वागत में गीत बना कर लाये गाये,
और काव्य के चमत्कार से मेहमानों का दिल बहलाये ।
आमन्त्रण की गुरुता से ही
सहज गर्व से फूल फूल उठती है तब उस कवि की छाती
—गद्गद हो कर गा उठता है कवि
तब राजा और सेठ की स्तुति के गायन ।
गाता है वह कलाकार
जब बाहर दुनिया में फैली घनघोर विषमता,
दिशि दिशि से उठ रहा भयानक चीत्कार
उसको तो है बस अपने सपनों से ममता—
वह कलाकार !

क्या परवा उसको एक ओर भूखे मरते लाखों प्राणी,
वह दिव्य दृष्टि से देख रहा उसकी तो युग युग की वाणी,
उसके स्वर में है बोल रही देवी सरस्वती कल्याणी !

कवि द्रष्टा है
जीवन के पीछे छिपे हुए अज्ञात तत्त्व का ।
मानवता के अमर चिरंतन नियमों का
कवि मग्न है ।
वह क्या गाये
इस वर्तमान के अति कुत्सित तामस अँधेरे के

जडता के,
काले-काले क्रुद्ध गीत,
जब देख रहे उस के अधमूँदे नयन,
क्षितिज के पार दूर गरिमा के गौरव से मण्डित स्वर्णिम अतीत!

वह गाता है—
षोडशवर्षीया सुकुमारी,
बडे-बडे महलो मे रहनेवाली सुदर राजकुमारी की प्रशस्ति म
(राजमहल वे,
जिनकी गहरी नीवा पर बलिदान हो गये
भूखे, नर ककाल अस्थि-पजर से वे लाखा मजूर,
जिनके गरम रक्त से सिंचित
राजमहल या छाती ताने आज खडे ह!)
रूप और वैभव की मदिरा म विभोर
कवि गाता है
अतृप्त यौवन के, लिप्सा के
गीले गीले गलित गीत
मृत्युगीत!
कवि गाता है,
वह कलाकार है।
व्याकुल मानवता की सस्कृति की रक्षा का
उसके ऊपर आज भार है
भूत भविष्यत्-वतमान को देख रहा वह आर पार है।
वह ईश्वर है,
वह ज्ञाता है,
दानवता से रादे जाते मनुष्यत्व का प्रतिनिधि है
वह कलाकार जो गाता है,
जो केवल गाता है—!



डूबती सन्ध्या

डूबती निस्तब्ध सन्ध्या,
ग्रीष्म की तपती दुपहरी प्रबल झझावात के पश्चात्,
सुनसान शात उदास सन्ध्या।
विरल सरि का चिर अनावृत गात
जो किसी की आख के अभिराम जादू के परस से
हो उठा है लाल
ऐसा गात
किस अनागत की प्रतीक्षा में खुला है ?
दो किनारे
व्यथित व्याकुल—
बाहु-बन्धन में किसीको बाधने को
नित्य आकुल,
व्यर्थ ही तो है
युगों से इस अनावृत मुग्ध यौवन का
उपेक्षित देह का आह्वान
छवि का गान !
वक्ष पर फैली सुनहली
अलस मन अभिराम, सिकता,
तन बिछाये
चिर-समर्पित जो छिपाये
युगों से चुपचाप—रिक्तता !

अस्त होते अरुण रवि का स्नेह-वैभव
इस चरम अवसान के पट में

बिखेरा चाहता है
विश्व पर अपनी प्रभा का दान
इसीसे प्रत्येक पल,
मानो किसी अतिरेक का हो घनीभूत स्वरूप,
पलक म बुझ जायगा ऐस प्रकम्पित दीप के
स्नेहिल हृदय का रूप।
थकी किरणा का जगत् को प्रीति का उपहार—
मन की कालिमा का प्यार से धो डालने का चिरन्तन व्यापार,
जो कि पल भर मे अभी हा जायगा नि शप,
हा उठा है
इसीसे अपनी क्षणिकता मे मधुर छविमान।
दूर जीवन के थपेडा से परे
सूने गगन म आख फाडे
कल्पना प्रिय युवक-कवि-सी सहज निष्प्रभ
खडी हैं वैभव विहीन पहाडिया।
इस विभा के मधुर पल मे भी नही है
पत्थरा के
इन पहाडी पत्थरा के हृदय मे कुछ स्नेह कम्पन
प्राण का सचार
व खडे हैं अचल चिर अविकार।
वह विचित्र कुरूपता उनकी
विभा के पाश्व म
है हो उठी कुछ और भी असमान।
ग्रूब तन कर या अचल खडे रहने का
असगत दप,
उच्चता का गव,
अपनी पूणता का वह निरन्तर भान,
ओछा अकिंचन अभिमान,

लगता है निरथक ।
इस उँचाई का नही है
भूमि के रसमय प्रणय म योग,
इस लिए
हलकी प्रलम्बित मौन छायाए गिराता
छिप गया सूरज कही पर दूर,
और थक कर चूर
दिन सान लगा है साझ की गहरी उदासी म ।



अनजाने चुपचाप

अनजाने चुपचाप अधखुले वातायन मे
आती हुई जुन्हाई सा ही
तेरी छवि का सुधि-सम्मोहन
आज बिखर कर सिमट चला है मेरे मन म ।
छलक उठा है उर का सागर
किसी एक अज्ञात ज्वार से,
किन सपनो के मदिर भार से,
किन किरनो के परस-प्यार से,
पल भर म यों आज अचानक ।
यह किस रूप-परी विरहिन के उर की पीडा
मेरे जी म भी चुपके से तिर आयी है
यों अनजाने ।
गूँज उठा है अन्तर-जीवन
किस फेनिल अरुणाभ राग से,
किन फूलो के मधु पराग से
पुलकित हो आया है,
आकुल मधु-समीर ।
जी के इस कानन म भी फूली है सरसो,
इस वन का भी कोना-कोना
है भर उठा अकथ स्पन्दन से ,
प्राणो के वन-वन मे
झरता मोलसिरी के फूलो-सा
अम्लान स्नेह ।

तुम हो मुझसे दूर कहीं पर
यौवन के प्रभात में विकसित,
डाली पर झुक झुक
बल खाती,
सहज सरल निज क्रीडा मे रत
कुन्दकली-सी ।
यह मधुमास सजीला चुप चुप
तेरे उर के आंगन को
गीला कर-कर जाता होगा री ,
परिमल के मिठास से भाराकुल,
यह वासन्ती बयार
उलझ उलझ कर खोल-खोल देता होगा री,
तेरा कच-सम्भार सुरभिमय ।
कुछ अनमनी उदासी से तुम
सहज भाव से,
अपने विकच लोचनों के ऊपर से—
वे लोचन जिनमें प्रतिपल में
छलक छलक आती है बरबस
छनी हुई करुणार्द्र मधुरिमा,
जिनमें हो कर सुमुखि
तुम्हारे सहज स्नेह का सब गीलापन
निखर बिखर आता है—
जिस रजनीगंधा के मन में सना रुपहला
भरे हुए उन चंचल नैनों के ऊपर में
हगा-हगा देता होगी व कगा हठील ।
यह चांदनी निहार अचानक
उन जनार की अविकच कलियाओं हागा से,
तभी तुम्हारे मन का सुन अनजाना उन्मन प्यार लजीला

बह आता होगा रानी,
स्वर धारा म ।
पवन गुजरण से भी कोमल, अति कोमल वह,
निविड गूय म
तेरी वाणी का स्वर
भर भर
गज गूज उठता होगा,
अग जग म ।

म एकाकी,
मेर आगे टेटा मेढा बिखरा फैला है
अनन्त पथ अब भी बाकी ।
बिना तुम्हार,
इस वसन्त रजनी की दूध भरी छाया म
चला जा रहा हू मैं पग-पग
बिना बिचारे, बिना सहारे ।
केवल रानी,
यह मदिरा-सी तरल जुन्हाइ,
—किसी रूपसी सुरबाला के तन की आभा-सी यह छायी—
भर जाती है मेरे मन म तेरी छवि का सुधि सम्मोहन,
और प्यार से पिघल पिघल कर
मेरा दुख हो आता पानी ।

■

मिचन्द्र
३

इस क्षण में

आज उचटा सा हृदय
साइरन बज जाय उसके बाद
निर्जन शून्य सड़का सा निभृत निस्संग खाली
व्यस्तता की स्याह-सी बेमाप चादर से
अभी ज्यों ढक गया हो शून्य जी का प्रान्त।
हो गया है आज इस क्षण में
न जाने किस लिए उत्साह निर्वासित
भयानक शीत के, हिम के अचानक खुल गये हैं द्वार
कब-तब के रुके,
जो पड़ गया फीका विरस निस्सार
मन कुछ—मरण, जीवन अस्त हृत्कम्पन!
असम्बद्ध अनेक तागे से
हृदय से निकल कर
होने चले हैं निष्प्रयोजन ही किसी सुनसान-से में लीन
और केन्द्रविहीन-सा मन
चकित है
कुछ थका-सा भी है
न पा कर इस विरसता का कहीं भी थाह,
इस अपरिचित अनमने व्यापार का
अब कौन सा है हेतु
आखिर कौन-सा है चाह?
एक बस तुम हो
उदासी की अमा में किरण रेखा-सी

कहीं से
दूर हो से घाउ देती हो विभा के रंग,
ग्लानि की इस घटाटोप अभेद बदली में
तुम्हारी याद हो
बस काँप उठती है चमक-सी ।

हड्डियाँ को भेद कर कँपकँपी जो उत्पन्न कर दे,
उस भयानक शीत बेला में
तुम्हारी याद, प्रिय,
पत्तियों पर बस गयी हिम की सतह-सी
सरल पावन और चिर अविकार,
जिस अकल्पित दिव्यता की सुरभि से,
सौन्दर्य से,
मन का सभी व्यापार ही थम जाय,
पञ्च भी हो जायँ स्थिर निस्पन्द,—
उस परम आनन्द सी,
निष्कलुष सौन्दर्य के आगे उमड़ती विवशता सी
पूर्ण, व्यापक, मधुर
इस तुम्हारे सुधि-परस से
हो चली
सब ग्लानि, कड़वाहट हृदय की दूर
खुल रहे हो बन्द वातायन कि जैसे प्राण के इस भवन के ।
आज हो प्रिय,
इस लिए हो आज पहली बार हो,
मैं पा गया हूँ तुम्हें पूरम्पूर
चीन्ह पाया हूँ
कि इतनी दूर से,
इस अगम व्यवधान को भी पार कर

आकुल तुम्हारे स्नेह के आलोक का संस्पर्श
मेरे अनमने संतप्त प्राणों को
सदा भरता रहेगा
चैत की पूनो,
शरद की चाँदनी के गीत के बेहोश स्वर आरोह से
रात रानी के नशे से,
सुरभि से।



धूल भरी दोपहरी

धूल भरी दोपहरी
जगती के कण कण मे गूजी आकुल सी स्वर लहरी
सरल पल आत-जाते
करुण सिकता भर लाते
एक मूच्छना सी प्राणा पर वेमाने बरसाते
अलसता होती गहरी !

मधुर अनमनो उदासी
एक धूमिल रेखा सी—
छायी है, वहता जाता है पवन अरब न यासी
कौन दशा को ठहरी ?
आकर या चल दिय कहा ओ जग क चचल प्रहरी !

आगे गहन अँधेरा है

आगे गहन अँधेरा है, मन रुक रुक जाता है एकाकी,
अब भी है टूटे प्राणों में किस छवि का आकर्षण बाकी ?
चाह रहा है अब भी यह पापी दिल पीछे को मुड़ जाना,
एक बार फिर से दो नैनों के नीलम नभ में उड़ जाना,
उभर उभर आते हैं मन में वे पिछले स्वर सम्मोहन के,
गूँज गये थे पल भर को बस प्रथम प्रहर में जो जीवन के,
किन्तु अँधेरा है यह, मैं हूँ, मुझको तो है आगे जाना—
जाना ही है—पहन लिया है मैंने मुसाफिरी का बाना।
आज मार्ग में मेरे अटक न जाओ यों, ओ सुधि की छलना !
है निस्सीम डगर मेरी, मुझको तो सदा अकेले चलना,
इस दुर्भेद्य अँधेरे के उस पार मिलेगा मन का आलम,
रुक न जाय मुक्ति की बाधा से प्राणों की यमुना का संगम,
खो न जाय द्रुत से द्रुततर बहते रहने की साध निरन्तर,
मेरे उसके बीच कहीं रुदन से बढ़ न जाय यह अन्तर।

क्या भाया ?

क्या भाया ?
अनजाने मन क्या इस कोलाहल में खिंच कर वह आया ?
वे वन की सन्ध्याएँ निर्जन
मंदिर अरुण, पीली,
भोली-सी नीली
सूना निर्झर-तीर
कहीं से मौलसिरी का परिमल उन्मन
लाया सिहराता समीर,—
भर लाया।
नन्हीं चिड़ियों का कलरव सुन
पूछ पूछ उठता था मन,
यह क्या गाया,
भोली चिड़िया ने क्या गाया ?
ये उलझे आवरण यहाँ के,
बन्धन की छाया
झूठी जीवन की परिभाषा
दीन से आडम्बर की ओछी सी अभिलाषा
इस कोलाहल के अंचल में आ कर क्या पाया ?
क्या पाया ?
क्या मन खिंच कर वह आया ?

ज़िंदगी की राह

यह ज़िंदगी की राह
है कब चुकी
चिर विकल मानव के अधूरे-से बने उन स्वप्नलोकों को,
अथक यह गीत लहरी कब रुकी,
है थक चुकी,
एक स्वर से एक लय से चल रही है
युगों से जिसके सहारे त्रस्त मानव के हृदय की धुकधुकी
जो थक चुकी है कब रुकी ?

है निरंतर ही प्रगति की,
एक गति से दौड़ने की छिपी मन में चाह,
मेघ माला से लगे
ऊँचे बरफ़ के अनुल्लंघ्य अगम्य पर्वत ,
व्यापक तूफ़ान के विक्षोभ से चंचल
अछोर तरंग संकुल
सर्वभक्षी सागरों को रौंद जाने
लाँघ जाने का अथक उत्साह
ऐसी चाह—
यह है ज़िन्दगी की राह।
यहाँ रुकने का न कुछ अवकाश
मौन में भी तीव्र गति में चल रहा है आज जीवन
किन्तु तो भी है न मंज़िल पास—
है ऐसा विचित्र प्रवास।

इस निरन्तर भागने मे हार कर रुक भी गये
ता—
क्या यहा तुम इस डगर म किसी से दो बात कर के
कहोगे अपने हृदय का दद ?
इस अकेली यात्रा म कही मे पल भर अटक कर
जो सुनहली गहन-पीडा का मधुर सम्भार
लाये हो पथिक !
आकुल किसी का प्यार,
आतुर भीगते-से लोचना मे जगमता कुछ नेह का ससार
उसे वह दागे किमी मे ?
और गालोगे
सरस सुकुमार
अपने व्यथित प्राणा म घुमडती आह ?
किन्तु यह तो पत्थरों की राह।
दूर तक सूनी अकेली पत्थरा की राह,
वे कठिन पत्थर
तुम्हारी कथा सुन जा दे सकेंगे एक ही,
बस व्यग्य की तीखी हसी का एक ही उपहार।
सुख-दुखो के करुणा कोमल किरीने
वज्र निमम पत्थरा पर पडे,
पल म टूट जायेंगे,
नही है इह कुछ परवाह
ऐसा पत्थरा का प्यार।

यह है पत्थरा की राह।
यहाँ रुकने का नही अवकाश,
मंजिल दूर हो या पास,
हो उफुल्ल, मधु स मिलन, कम्पन से भरे

नमिचन्द्र

ज़िंदगी की राह

यह ज़िंदगी की राह
है कब चुकी,
चिर विकल मानव के अधूरे-से बने उन स्वप्नलोकों को,
अरुक यह गीत लहरी कब रुकी,
है कब चुकी
एक स्वर से एक लय से चल रही है
युगों से जिसके सहारे त्रस्त मानव के हृदय की धुकधुकी
जो कब चुकी है कब रुकी?

है निरंतर ही प्रगति की,
एक गति से दौड़ने की छिपी मन में चाह
मेघ माला से लदे
ऊंचे बरफ के अनुल्लंघ्य अगम्य पर्वत
कांपते तूफान के विक्षोभ से चंचल
कठोर तरंग संकुल,
सनसनी सागरों को रौंद जाने
लांघ जाने का अथक उत्साह
ऐसी चाह—
यह है ज़िंदगी की राह।
यहां रुकने का न कुछ अवकाश
मौन में भी तेज गति में चल रहा है आज जीवन
किन्तु तो भी है न मंज़िल पास—
है ऐसा विचित्र प्रवास।

इस निरंतर भागने से हार कर रुक भी गये
तो—
क्या यहां तुम इस डगर में किसी से दो बात कर के
कहोगे अपने हृदय का दर्द ?
इस अकेली यात्रा में कहीं से पल भर अटक कर
जो सुनहली गहन पीड़ा का मधुर सम्भार
लाये हो पथिक !
आकुल किसी का प्यार,
आतुर भीगते-से लोचनों से बरसता कुछ नेह का संसार
उसे कह दोगे किसी से ?
और खोलोगे
सरस सुकुमार
अपने व्यथित प्राणों में घुमड़ती आह ?
किन्तु यह तो पत्थरों की राह।
दूर तक सूनी अकेली पत्थरों की राह,
ये कठिन पत्थर
तुम्हारी कथा सुन जो दे सकेंगे एक ही,
बस व्यंग्य की तीखी हँसी का एक ही उपहार।
सुख-दुखों के कल्पना कोमल खिलौने
बच निमम पत्थरों पर पड़े,
पल में टूट जायेंगे,
नहीं है इन्हें कुछ परवाह
ऐसा पत्थरों का प्यार।

यह है पत्थरों की राह।
यहाँ रुकने का नहीं अवकाश,
मंजिल दूर हो या पास,
हो उत्फुल्ल, मधु से सिक्त, क्रन्दन से भरे

ये प्राण,
या हा चिर निराश उन्मास—
नहीं अवकाश !

ज़िदगी की राह के कुछ दूसरे ही हैं नियम
कुछ दूसरे ही ढग ।
सामने जिसक प्रखरतम
ज्योति का
नव ज्वाल की भीषण प्रभा का लाल पावन रग —
तडपता विद्रोह से अस्थिर सितारा !
आज पथदर्शक वही है
चल आओ उसी आभा के सहारे,
व्यय मत खोजो किसी छवि के,
किसी मधु-आह्वान म खोये हुए कवि के
रगील कल्पना के परी-लाकों के किनार !
सब भटकना छोड पथा
आज आओ साधना की राह
जीवन एक एमी राह ।
सवहारा
प्रगति क उद्दाम नव उन्माद से बेचैन
आकुल एक धारा
एक मनत प्रवाह—
एमी जिन्दगी की राह !
जीवन एक लम्बी राह !



व्यर्थ।

मागदशक बोल दो—
हो रही हैं पुतलियाँ धुँधली अनवरत चेष्टा स
दखने की
गहन की अस्पष्टता को चीर कर अपना विलम्बित लक्ष्य,
जो कि मानो व्यग्य से
उपहास से,
निमम,
सरकता जा रहा है
दूर,
दूरतर,
अनुल्लघ्य अभेद तम म स
अचानक ही डरी-सी कांपती धीमी घिसी आवाज सा ही
दूरतम

किन्तु मै हारा नही हूँ,
फडफडाती ह अभी बाँह
कि अपने माग के अवरोध सारे तोड दूँ—
फफडा म रक्त बहता है अभी इतना
कि भर लू
उस निखरती अथिर छलनामयी का
आदलप मे,
जो तोड दे व्यवधान
कर दे एक, एकम-एक,
दो इन दूर पर चलते सितारो को।

किन्तु पथ-दर्शक,
विवश मैं हार जाता हूँ भयंकर मौन से
बेमाप अपने प्राण में छाये हुए एकान्त से,
सतत निर्वासित हृदय से।
तिरस्कृत व्यक्तित्व के
थोथे असंगत दर्प ने मन की
सहज अनजान स्वाभाविक अनावृत धार को
कर दिया है कुण्ठित—
सहज अंगारे
कि मानो दब गये हों बुझ-से
जैसे कि ठण्डी राख-से।
जल रहे हैं
मात्र छूने से लगा दें
प्रज्वलित कर दें अकल्पित ज्वाल मालाएँ—
ऐसी चाह भी है,
है नहीं बस मित्र ही सहयोग का
सब तरफ फैले हुए
उन विविध गतिमय प्राणमय
सचलित तत्वों से किसी सम्बन्ध की
छूट स्वतः स्फूर्त सजीव विनिमय का।
इस लिए ओ मार्ग-दर्शक
आज मैं जम व्यर्थ हूँ
सुनसान में निर्जन खड़े उजड़े महल-सा।



उन्मुक्त

हो गया आज उन्मुक्त विहग पल में अबन्ध
छुट गये वासना के नाते सब मोह अन्ध।
खुल गये पलक में ममता के सब नाग-पाश,
कारा-तम के वासी ने देखा उपा-हास,
उड चला गगन में अपने आतुर पंख खोल।
भर गयी मुक्ति मन में कुछ वह मस्ती अमोल।
उद्दाम वेग से उडा चला मानो अशान्त—
ही नभ की सीमा ही छू लेने को नितान्त,
उड जायेगा मानो अग-जग के आर पार,
उसके अन्तर में आया है वह रक्त ज्वार।
है आज न उसके प्राणों का कोई विराम,
वह छोड चला रुकने के सारे सरजाम
उसके आगे क्या ठहरेगा कोई विरोध ?
हो गया उसे अपनी क्षमता का पूर्ण बोध।
चिर दिन से बन्दी आकुल-सा कोई प्रवाह
पा जाय अचानक ही अपनी अवरुद्ध राह,
उसके आगे तब ठहर सका है कौन कूल ?
—जब हो पडती है प्राणों की गंगा अकूल।
वह आज चीर देगा अम्बर का उर अनन्त,
युग-युग की जडता का कर देगा आज अन्त,
वैषम्य शृंखलाएँ होंगी सब चूर-चूर,
उग रही स्वर्ण रेखाएँ समता की सुदूर।
वह आज मिटा देगा जीवन से वृथा दम्भ,

होगा उस पल म हो नवयुग का समारम्भ ।

धीरे धीरे कलियो के खुल्ने के समान
उस गहन वेदना का रहस्य वह गया जान,
है काँप रहा जिससे संसति का वक्ष-देश
है कण्ठ रुधा-सा, पलकें अविचल निर्निमेष ।
उस चिर-असीम क आगे निज सीमित कुरूप
अपने मन का पहचान गया है वह स्वरूप,
लगता है कितना ओछा अपना क्षुद्र प्यार,
कितना दुबल है बौना अपना अहकार !
पर आज घुल गया है सारा वह छद्मवेश
पहचान गया है वह अपनी लघुता अशेष,
व घोर अपावन छलना के पल गये बीत—
वह आज विसर्जित है प्रभु चरणा म पुनीत ।
ममता क बधन बधन की ममता समस्त
अब टूट चुकी उसका पथ फला है प्रशस्त ।



तार सप्तक को प्रकाशित हुए अब लगभग बीस साल हो गये। स्पष्ट है कि इस बीच इस संग्रहके प्रत्येक कविकी सामान्य कविता सम्बन्धी, और स्वयं अपनी काव्य प्रक्रिया सम्बन्धी धारणाओंमें बहुत-कुछ विकास या परिवर्तन हुआ ही होगा। पर उसकी चर्चाके लिए यह उपयुक्त स्थान नहीं। बल्कि अब सामान्यतया और तार सप्तकके अनुभवके कारण विशेष रूपसे मुझे लगता है कि कविका अपनी कविताके सम्बन्धमें चाहे सफाईके तौरपर चाहे व्याख्याके रूपमें कुछ भी कहना कविता और पाठक दोनोंके बीच दीवार खड़ी करना है। उससे लगभग अनिवार्य रूपसे पाठक का ध्यान कवितासे अधिक कविके वक्तव्यपर चला जाता है जिससे उस काव्यकी अनुभूतिका ग्रहण अप्रासंगिक और कविके सिद्धान्तोंकी चर्चा मुख्य हो जाती है। स्वयं तार सप्तक की परवर्ती आलोचनाएँ इस बातका सबसे बड़ा प्रमाण है। कुछ तो तार सप्तक के कवियों और विशेषकर सम्पादक महोदयके चुनौती भरे स्वर तथा सिद्धान्तबाजीके कारण और कुछ हिन्दीके आलोचकोंकी मूढ़ताके कारण उन कवियोंके काल्पनिक प्रयोगवाद की ही चर्चा अधिक हुई उनकी कविताओंका उचित आकलन या मूल्यांकन नहीं हो सका।

दुर्भाग्यवश 'तार सप्तक' एक अन्य भ्रमका भी शिकार हुआ। साधारणतः यही माना और समझा जाता है कि 'तार सप्तक' किसी सुचिंतित काव्य-आन्दोलनका अग्रदल था जिसके सूत्रधार और नेता उसके सम्पादक महोदय थे। फलस्वरूप सम्पादक महोदयसे सम्बन्धित विभिन्न साहित्यिक और व्यक्तिगत पूर्वाग्रहोंकी तीखी आलोचनाका अनुसार बोझ भी 'तार सप्तक' के कवियों और उनके निमित्तसे सारी फैली हुई नयी काव्य-चेतनाको उठाना पड़ा। तथाकथित प्रयोगवाद तथा समस्त नवीन काव्यकी सारी परवर्ती आलोचना मूलतः उसके सम्पादकके नाते उनकी साहित्यकार और कवि 'अज्ञेय' की आलोचना होती रही और इन कवियोंका अपना व्यक्तित्व उपेक्षित भी हुआ और गलत भी समझा गया। इससे

किसी हद तक इन कवियोंके भावी विकासको और हिन्दी काव्यकी परवर्ती दिशा तथा गतिको अहितकर रूपसे प्रभावित किया और मूल्यांकनके मानदण्डोंमें भी विकृति उत्पन्न की।

इस भ्रमका निराकरण शायद इस अवसरपर समुचित हो। वास्तवमें 'तार सप्तक' के सम्पादक अज्ञेयका हाथ उसके प्रकाशनमें चाहे जितना रहा हो, पर उसकी परिकल्पना उनकी नहीं थी और न उसमें संगृहीत कवि ही मात्र उनकी पसन्दके कारण एकत्र हुए थे। बल्कि सम्पादक अज्ञेय स्वयं ही उस संग्रहमें शायद इस कारण ही अधिक थे कि वह उसके प्रकाशनमें प्रमुख रूपसे सहायक हो रहे थे। साथ ही संगृहीत कवि स्वयं भी किसी सामान्य साहित्यिक या अन्य मान्यताओंके कारण नहीं बल्कि नितान्त व्यक्तिगत कारणोंसे विशुद्ध परिस्थिति और संयोगवश एक साथ थे। 'तार सप्तक' किसी भी रूप या अर्थमें किसी साहित्यिक आन्दोलन या प्रवृत्तिसे प्रेरित न था। उसके कवि 'प्रयोगवादी' नहीं थे, शायद उस अर्थमें भी नहीं जो सम्पादकने पहले अपनी भूमिकामें उनपर आरोपित किया और जिसे फिर बादमें सैद्धान्तिक आकार दे दिया गया। उनकी अनुभूति और अभिव्यक्ति शैली तत्कालीन सामाजिक और साहित्यिक परिस्थितियोंकी स्वाभाविक और लगभग अनिवार्य परिणति थी।

यहाँतक भी शायद स्थितिमें कहीं कोई असंगति नहीं है, यद्यपि 'तार सप्तक' की सम्पादकीय भूमिका उसमें संगृहीत कवियोंकी साहित्यिक स्थिति के लिए बहुत अच्छी नहीं सिद्ध हो सकी। किन्तु स्वाधीनताके बाद जब 'तार सप्तक' की ओर पाठकों आलोचकोंका ध्यान आकर्षित हुआ और उसकी सम्भावनाओंको पहचान कर सम्पादक [illegible] कम ही और भी स्पष्ट [illegible] बनाता सा स्थितिने एक नया ही मोड़ ले लिया। दूसरा सप्तक और तीसरा सप्तकके प्रकाशनसे आलोचकोंका यह भ्रम पूरी तरह [illegible] प्रतिष्ठित हो गया कि सम्पादक अज्ञेय [illegible] प्रयोगवाद नामक किसी नये काव्य आन्दोलनके प्रवर्तक हैं।

'तार सप्तक' की सम्पादकीय भूमिका कुछ एक सैद्धान्तिक उक्तियोंके बावजूद मात्र उन सात कवियोंके एकत्र होनेके कारणोंका विवरण मात्र था। पर बादमें शायद सप्तकों की भूमिकाओंमें नियमित सिद्धान्त विवेचन हुआ और उसने एक धारणा-स्थापनाका रूप धारण कर लिया। 'दूसरा सप्तक' में सम्पादक [illegible] 'तार सप्तक' के सभी कवियोंकी [illegible]

तो तार सप्तक के कवि ऐसे कवि थे जिनके बारेमें कम-से-कम सम्पादककी यह धारणा थी कि उनमें कुछ न और न पाठक सामने लाये जाने पात्र हैं। तीसरा सप्तक की भूमिकामें सप्तकों की योजना के आधारभूत विश्वास की चर्चाके साथ उन्होंने कहा कि तार सप्तक एक नयी प्रवृत्तिका परिचायक मात्र था इससे अधिक और कुछ नहीं। तार सप्तक के कवियोंको एकत्र करने और पात्र समझकर उन्हें पाठकोंके सामने लानेका यह मिथ्या दावा भले न भी हो पर इन कवियोंके साथ सरासर अन्याय तो है ही। पर यह बात उस समय इसलिए विश्वसनीय लगी कि दूसरा और तीसरा सप्तक सचमुच सम्पूर्णतः सम्पादकके प्रयत्न, संयोजन और उनकी संगठनात्मक सामर्थ्य और पहलके फल थे। यह बात तब स्पष्ट न हो सकी कि जहाँ मूलतः तार सप्तक के कवियोंने अपना सम्पादक चुना था कि वह प्रकाशक चुना था वहाँ बादके दोनों सप्तकों के कवियोंको सम्पादकने चुना था। इन दोनों संग्रहोंमें कुछ-एक स्वयं स्वतंत्र सशक्त और पूर्व-विकसित कवि व्यक्तित्व सम्मिलित होनेके बावजूद इन संग्रहोंके पीछे मूलतः उनके सम्पादककी साहित्य और काव्य-सम्बन्धी मान्यताओंकी प्रेरणा और अभिरुचि थी। इन्होंने न केवल उत्तरोत्तर नवीन काव्यका प्रकाशन किया बल्कि समकालीन काव्यके रूपको एक विशेष दिशा सौंपी। उनके कारण और परिणामस्वरूप बहुत-से तरुण कवि जाने अनजाने एक सामान्य किन्तु अस्पष्ट और अस्फुट काव्य-धाराके इर्द-गिर्द एकत्र होकर अन्य काव्याभिव्यक्तियोंका विरोध अथवा उनसे अपनी भिन्नता प्रकट करनेकी दिशामें प्रवृत्त हुए। सन् १९५० के बादके नवीन हिन्दी काव्यके एक विशेष दिशा में मुड़कर गुटबन्दी और संकीर्णतामें पड़ जानेमें सप्तकों के प्रकाशनका भी बहुत-कुछ हाथ है। सन् १९५४–५५ के आसपास तो तरुण कवियों के बीच चर्चाका सबसे बड़ा विषय ही यह हो गया था कि कौन किस 'सप्तक' में लिया जायगा अथवा नहीं ही लिया जायगा। कवि-गण अपनी और दूसरोंकी आधुनिकता, सार्थकता और महत्ता कवि होना या न होना सभी कुछ सप्तकों में शामिल होने-न होनेसे आँकने लगे थे। यह परिस्थिति वास्तविक सृजन और रुचियोंमें एक विचित्र प्रकारकी घुटन और संकीर्णताका परिचायक था। सप्तक एक बड़े अवांछनीय प्रकारके साहित्यिक संगठन (पट्टतंत्र) के साधन और प्रतीक बन रहे थे।

दुर्भाग्यवश 'तार सप्तक' भी इस शृंखलाकी पहली कड़ी माना जाने

पड़ता था और निरन्तर पड़ता रहा है। उसके नये संस्करणके प्रकाशनपर यह कहना सर्वथा अप्रासंगिक नहीं है कि वास्तविकता यह नहीं थी। तार सप्तक की स्थिति बादके दोनों सप्तकों से मौलिक रूपमें भिन्न थी और वह किसी आन्दोलन या साहित्यिक संरक्षण वृत्तिकी उपज नहीं था। तार सप्तक के कवि न तो स्वयंही किसी भी रूपमें किसी भी अंश तक ऐसी किसी प्रवृत्तिमें परिचालित हुए थे न वे किसी भी प्रकारसे सम्पादकके ही वैयक्तिक सैद्धान्तिक अथवा संगठनात्मक प्रयत्नोंके अंग थे, चाहे फिर व्यक्तिगत स्तरपर उनमें कवियोंकी कितनी ही घनिष्ठता क्यों न रही हो। महत्त्वपूर्ण बात यह नहीं कि तार सप्तक के प्राय सभी कवि एक दूसरोंके परिचित और मित्रतापूर्ण स्तर थे बल्कि यह कि उनका कोई दल नहीं था, कोई गुट नहीं था—और आज भी नहीं है। उनकी उपलब्धि चाहे जो हो पर वे स्वतन्त्र रूपमें ही अपने काव्यका पथ खोजते और बनाते रहे हैं।

यह सब कहना आज इसलिए और भी आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण हो गया है क्योंकि हिन्दीमें संरक्षण—विशेषकर साहित्यिक संरक्षण का बाजार बड़ा गर्म है—पुरानी पीढ़ीमें भी और नयोंमें भी। मेरा विश्वास है कि यह हमारे साहित्यिक जीवनके लिए शुभ और स्वस्थ नहीं है। यह न केवल निताल व्यक्तिगत स्तरकी दलबन्दी और गुटबाजियोंको उकसाता है बल्कि उसके कारण तरुण रचनाकार प्रतिभावान होकर भी जीवनको सीधे देखने भोगने और उस अनुभूतिको अपने प्रति निर्मम ईमानदारीसे वाणी देनेके बजाय किसी-न-किसी संरक्षणकी तलाश करने लगता है—राजनीतिक दलोंका, साहित्यिक मठाधीशों अथवा प्रकाशकीय कृपाकी। यह स्थिति रचनाकारको कभी स्वस्थ नहीं रहने देगी। मैं मानता हूं कि कविको अपने सिवाय किसीका प्रवक्ता नहीं होना चाहिए। प्रकाशनकी सुविधाओं अथवा अन्य किसी भी प्रकारकी सुविधाके लिए उसे अपना वफादारीका सौदा नहीं करना चाहिए। केवल अपने प्रति सच्चा रहकर ही सम्भव है कि किसी युगमें वह किसी बृहत्तर समूहका साक्षात्कार करके उसका प्रवक्ता भी बन सके। अन्यथा प्रचार और विज्ञापनकी प्रधानताके इस युगमें सम्भावना इसी बातकी अधिक है कि वह किन्हीं-न-किन्हीं प्रकट या अप्रकट शक्तियों या दलोंका साधन मात्र बना रह जाय और दूसरोंका जूठनका ही मौलिक अनुभूति समझकर और मान मानकर सजा-सजाकर पेश करता रहे। इसीलिए स्वतन्त्र कविता हो नहीं सकती, सकता है कि यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है जिसका इससे पहले सिद्ध न सकना है। —नेमिचन्द्र जैन

आज फिर जब तुमसे सामना हुआ

कितने दिनों बाद आज फिर जब
तुम से सामना हुआ
उस भीड़ में अकस्मात्,
जहाँ इसकी कोई आशंका न थी,
तो मैं कैसा अचकचा गया
रंगे हाथ पकड़े गये चोर की भाँति ।
तुरत अपनी घोर अकृतज्ञता का
भान हुआ
लज्जा से मस्तक झुक गया अपने-आप ।
याद पड़ा तुमने ही दिया था
वह बोध,
जो प्यार के उलझे हुए धागों को
धीरज और ममता से सँवारता है,
दी थी वह करुणा
जिसके सहारे
आत्मीयों के असह्य आघात सहे जाते हैं,
सह्य हो जाते हैं—,
और वह अकुण्ठित विश्वास
कि जीवन में केवल प्रवंचना ही नहीं है
अन्तर की अकिंचनताएँ प्रतिफलित
सहयोगियों की कुटिलता ही नहीं है,
किसी क्षणिक सिद्धि के दम्भ में
शिखर की छाती कुचलने का उद्यत

बौनो का अहंकार ही नहीं है—
जीवन में और भी कुछ है।

तुम्हारी ही दी हुई थी
वह अनन्य अनुभूति
कि वर्षा की पहली बौछार से
सिर चढ़ी धूल के दबते ही
खुली निखरने वाली
आकाश की शान्तिदायिनी अगाध नीलिमा,
वर्षों बाद अचानक
अकारण ही मिला
किसी की अम्लान मित्रता का सम्बल,
दूर रह कर भी साथ साथ एक ही दिशा में
चलते हुए सहधर्मियों का आश्वासन—
ये सब भी तो जीवन में हैं
तुमने कहा था।

यह सब
न जाने और क्या क्या
मुझे याद आया
और एक अपूर्व शान्ति से
परिपूर्ण हो गया मैं
जब आज
अचानक ही भीड़ में
इतने दिनों बाद
तुमसे यों सामना हो गया
ओ मेरे पिताजी!



गजानन मुक्तिबोध

वीना का अहकार ही नहीं है—
जीवन म और भी कुछ है ।

तुम्हारी ही दी हुई थी
वह अनन्य अनुभूति
कि वर्षा की पहली बौछार से
सिर चढ़ी धूल के दबते ही
खुली निखरने वाली
आकाश की शान्तिदायिनी अगाध नीलिमा
वर्षा बाद अचानक
अकारण ही मिला
किसी की अम्लान मित्रता का सन्देश,
दूर रह कर भी साथ साथ एक ही दिशा म
चलते हुए सहकर्मियो का आश्वासन—
ये सब भी तो जीवन म हैं
तुमने कहा था ।

यह सब,
न जाने और क्या क्या
मुझे याद आया
और एक अपूर्व शान्ति से
परिपूर्ण हो गया म
जब आज
अचानक ही भीड म
इतने दिनो बाद
तुमसे यो सामना हो गया
ओ मेरे एकान्त !



गजानन मुक्तिबोध

•

मुक्तिबोध, गजानन माधव—जन्म नवम्बर १९१७ में ग्वालियरके एक कसबेमें हुआ जहाँ सौ साल पहले कविके पूर्वज आ बसे थे। पिताके पुलिस सब-इन्स्पेक्टर होनेके कारण और बार-बार बदली होनेके कारण मुक्तिबोधकी पढ़ाईका सिलसिला टूटता जुटता रहा। फलतः १९३० में उज्जैनमें मिडिल परीक्षामें असफलता मिली जिसे कवि अपने जीवनकी 'पहली महत्त्वपूर्ण घटना' मानता है। उसके बाद पढ़ाईका सिलसिला ठीक चला और साथ ही जीवनके प्रति नयी संवेदना और जागरूकता बढ़ने लगी। सन् १९३५ में (माधव कॉलेज उज्जैनमें) साहित्य-लेखन आरम्भ हुआ। सन् १९३८ में बी० ए० पास किया। १९३९ में विवाह। उसके बाद 'निम्न-मध्यवर्गीय निष्क्रिय मास्टरी' जो अब तक है।

'मालवके एक औद्योगिक केन्द्रमें जिसमें बड़े शहरोंके गुणोंको छोड़कर उनकी सब विशेषताएँ हैं यह बन्दा रोज दिखता रहता है। नियमानुकूल बारह बजे दोपहर स्कूल जाता है और लौटती बार अपने पैरोंसे अपनी सिगरेटपर ज्यादा भरोसा रखता हुआ घरकी ओर चल पड़ता है। साँझ सात बजे पानवालेकी दूकानपर नित्य मिलता है। उज्जैनके रोगजम कहीं भी इस व्यक्तिको सड़कगश्ती करते हुए आप पा सकते हैं।'

★

१९४३—

नौकरियाँ पकड़ता-छोड़ता रहा। शिक्षक, पत्रकार पुनः शिक्षक सरकारी और गैर-सरकारी नौकरियाँ। निम्न मध्यवर्गीय जीवन, बाल-बच्चे दवा-दारू जन्म-मृत्यु।

जीवनकी स्मरणीय घटनाओंमें विशेष उल्लेखनीय है 'भारत इतिहास और संस्कृति' नामक पुस्तकका प्रकाशन और उसका परिणाम। यह पुस्तक मध्यप्रदेश सरकारके शिक्षा विभाग द्वारा पाठ्य-पुस्तक भी स्वीकार हुई और उसी सरकार द्वारा लोक सुरक्षा कानूनके अधीन अवैध भी घोषित हुई। उसके विरोधमें आन्दोलन हुए पत्रबाजी हुई कुछ नगरोंमें पुस्तक

की होली जलायी गयी। सम्प्रदायवादियों ने उसका उग्र विरोध किया। किसी लेखक के लिए उसकी पुस्तक का गैरकानूनी करार दिया जाना एक विलक्षण अनुभव होता है—प्रेम के अनुभव जैसा ही तीव्र और अविस्मरणीय।

'कामायनी : एक पुनर्विचार' प्रकाशित हो चुका है। 'नयी कविता का आत्म-संघर्ष' नामक निबन्ध संग्रह प्रकाशक के पास है।

मेरा मन नव-कथाशिल्पों की तरफ दौड़ रहा है, अर्थात् ऐसी काव्य रचनाओं की ओर जिनका कथ्य व्यापक हो, जिसमें जीवन के विश्लेषित तथ्यों और उनके संश्लिष्ट निष्कर्षों का चित्रण हो। पता नहीं, यह मुझसे कहाँ तक सधेगा।

११ सितम्बर १९६४ को लम्बी बीमारी के बाद मुक्तिबोध का निधन हो गया। कविता-संग्रह 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', निबन्ध-संग्रह 'एक साहित्यिक की डायरी' मरणोत्तर प्रकाशित हुए।

मालवेके विस्तीर्ण मनोहर उद्यानोंमें घूमती हुई क्षिप्राकी सजल भव्य मंथरता और विविध-रूप वृक्षावली छायाएँ मेरे किशोर कविकी आद्य सौंदर्य प्रेरणाएँ थीं। उज्जैन नगरके बाहरका यह विस्तीर्ण निसर्ग-लोक उस व्यक्तिके लिए जिसकी मनोरचनामें रंगीन आवेग ही प्राथमिक है, अत्यंत आत्मीय था।

उसके बाद इन्दौरमें प्रथमतः ही मुझे अनुभव हुआ कि यह सौन्दर्य ही मेरे काव्यका विषय हो सकता है। इसके पहिले उज्जैनमें स्व० रमाशंकर शुक्ल 'हृदय'की कविताएँ—जो माखनलाल स्कूलकी निकली हुई शाखा थी—मुझे प्रभावित करती रहीं, जिनकी विशेषता थी बातको सीधा न रखकर उसे केवल सूचित करना। तब यह था कि उसमें वह अधिक प्रखर होकर आता है। परिणाम यह था कि अभिव्यंजना उलझी हुई प्रतीत होती थी। काव्यका विषय भी मूलतः विरह-जन्य करुणा और जीवन-स्खलन ही था। मित्र कहते हैं कि उनका प्रभाव मुझपरसे अबतक नहीं गया है। इन्दौरमें मित्रोंके सहयोग और सहायतासे मैं अपने आंतरिक क्षेत्रमें प्रविष्ट हुआ और पुरानी उलझन भरी अभिव्यक्ति और अमूर्त करुणा छोड़कर नवीन सौन्दर्य-क्षेत्रके प्रति जागरूक हुआ। यह मेरी प्रथम आत्म-चेतना थी।

उन दिनों भी एक मानसिक संघर्ष था। एक ओर हिन्दीका यह नवीन सौन्दर्य-काव्य था, तो दूसरी ओर मेरे बाल-मनपर मराठी साहित्यके अधिक मानवतामय उपन्यास-लोकका भी सुकुमार परन्तु तीव्र प्रभाव था। टॉल्स्टॉयके मानवीय समस्या-सम्बन्धी उपन्यास—या महाकाव्य क्या? इसका प्रभाव कहिए या वयकी माँग, या दोनों, मैंने हिन्दीके सौन्दर्य लोकको ही अपना क्षेत्र चुना और मनकी दूसरी माँग वहीं पीछे रह गयी, जो अपने आत्मीय रूपमें पीछे रहकर भी साथ चल रही है।

मेरे बाल-मनकी पहली भूख सौन्दर्य और दूसरी विश्व-मानवका सुख-दुःख—इन दोनोंका संघर्ष मेरे साहित्यिक जीवनकी पहली उलझन

थी। इसका स्पष्ट वैज्ञानिक समाधान मुझे किसीसे न मिला। परिणाम था कि इन अनेक आन्तरिक द्वन्द्वोंके कारण एक ही काव्य-विषय नहीं रह सका। जीवनके एक ही बाजूको लेकर मैं कोई सर्वाङ्गीण दर्शनकी मीनार खड़ी न कर सका।

साथ ही जिज्ञासाके विस्तारके कारण कथाकी ओर मेरी प्रवृत्ति बढ़ गयी। इसका द्वन्द्व मनमें पहले हीसे था। कहानी-लेखन आरम्भ करते ही मुझे अनुभव हुआ कि कथा-तत्त्व मेरे उतना ही समीप है जितना काव्य। परन्तु कहानियाँ मैं बहुत ही थोड़ा लिखता था, अब भी कम लिखता हूँ। परिणामतः काव्यको मैं उतना ही समीप रखने लगा जितना कि स्वप्न। इसीलिए काव्यको व्यापक करनेकी, अपनी जीवन-सीमासे उसकी सीमाको मिला देनेकी चाह दुर्निवार होने लगी। और मेरे काव्यका प्रवाह बदला।

दूसरी ओर दार्शनिक प्रवृत्ति—जीवन और जगतके द्वन्द्व—जीवनके आन्तरिक द्वन्द्व—इन सबको सुलझानेकी और एक अनुभव-सिद्ध व्यवस्थित तत्त्व-प्रणाली अथवा जीवन-दर्शन आत्मसात् कर लेनेकी दुर्दम प्यास मनमें हमेशा रहा करती। आगे चलकर मेरी काव्यकी गतिको निश्चित करनेवाला सशक्त कारण यही प्रवृत्ति थी। सन् १९३५ में काव्य आरम्भ किया था, सन् १९३६ से १९३८ तक काव्यके पीछे कहानी चलती रही। १९३८ से १९४२ तकके पाँच साल मानसिक संघर्ष और बर्गसोनीय व्यक्तिवादके वर्ष थे। आन्तरिक विनष्ट शान्तिके और शारीरिक ध्वंसके इस समयमें मेरा व्यक्तिवाद कवचकी भाँति काम करता था। बर्गसोंकी स्वतन्त्र क्रियमाण जीवन-शक्ति (elan vital) के प्रति मेरी आस्था बढ़ गयी थी। परिणामतः काव्य और कहानी नये रूप प्राप्त करते हुए भी अपने ही आसपास घूमते थे, उनकी गति ऊर्ध्वमुखी न थी।

सन् १९४२ के प्रथम और अन्तिम चरणमें मैं एक ऐसी विरोधी शक्तिके सम्पर्कमें आया जिसकी प्रतिकूल आलोचनासे मुझे बहुत कुछ सीखना था। शुजालपुरका अर्द्ध-नागरिक रम्य एकस्वरताके वातावरणमें मेरा वातावरण भी—जो मेरी आन्तरिक चीज है—पनपता था। यहाँ लगभग एक सालमें मैंने पाँच सालका पुराना जड़त्व निकालनेकी सफल असफल कोशिश की। इस उद्योगके लिए प्रेरणा, वितर्क और शान्ति मैंने एक ऐसी जगहसे पायी जिसे पहले मैं विरोधी शक्ति मानता था।

क्रमशः मेरा झुकाव मार्क्सवादकी ओर हुआ। अधिक वैज्ञानिक, अधिक मूर्त और अधिक तेजस्वी दृष्टिकोण मुझे प्राप्त हुआ। शुजालपुरमें पहले

पहले मन कथातत्त्वके सम्बन्धमें आत्म विश्वास पाया। दूसरे अपने काव्यकी अस्पष्टतापर मेरी दृष्टि गयी, तीसरे नये विकास-पथकी तलाश हुई।

यहाँ यह स्वीकार करनेमें मुझे संकोच नहीं कि मेरी हर विकास स्थितिमें मुझे घोर असन्तोष रहा और है। मानसिक द्वन्द्व मेरे व्यक्तित्वमें बद्धमूल है। यह मैं निकटतासे अनुभव करता आ रहा हूँ कि जिस भी क्षेत्रमें मैं हूँ वह स्वयं अपूर्ण है और उसका ठीक-ठीक प्रकटीकरण भी नहीं हो रहा है। फलतः गुप्त अशान्ति मनके अन्दर घर किये रहती है।

लेखनके विषयमें

मैं कलाकारकी स्थानान्तरगामी प्रवृत्ति (माइग्रेटरी इंस्टिंक्ट) पर बहुत ज़ोर देता हूँ। आजके वैविध्यमय उलझनसे भरे रंग बिरंगे जीवनको यदि देखना है तो अपने वैयक्तिक क्षेत्रसे एक बार तो उड़कर बाहर जाना ही होगा। बिना उसके इस विशाल जीवन-समुद्रकी परिसीमा, उसके तट-प्रदेशोंके भूखण्ड, आँखोंसे ओट ही रह जायेंगे। कलाका केन्द्र व्यक्ति है पर उसी केन्द्रको अब दिशा-व्यापी करनेकी आवश्यकता है। फिर युगसन्धि-कालमें कार्यकर्ता उत्पन्न होते हैं कलाकार नहीं इस धारणाको वास्तविकताके द्वारा ग़लत साबित करना ही पड़ेगा।

मेरी कविताओंके प्रान्त-परिवर्तनका कारण है यही आन्तरिक जिज्ञासा। परन्तु इस जिज्ञासु-वृत्तिका वास्तव (ऑब्जेक्टिव) रूप अभी तक कलाम नहीं पा सका हूँ। अनुभव कर रहा हूँ कि वह उपन्यास-द्वारा ही प्राप्त हो सकेगा। बस काव्यमें जीवनके चित्रोंको—यथा कथानिक टाइपकी—उद्भावनाको अथवा सत्र विचारको, अथवा शुद्ध शब्द चित्रात्मक कविता हो सकती है। इसीके प्रयोग मैं करना चाहता हूँ। पुरानी परम्परा बिल्कुल छूटती नहीं है पर वह परम्परा है मेरी ही और उसका प्रसार अवश्य होना चाहिए।

जीवनके इस वैविध्यमय विकास-स्रोतको देखनेके लिए इन भिन्न भिन्न काव्य-रूपोंको यहाँ तक कि नाट्य-तत्त्वको, कवितामें स्थान देनेकी आवश्यकता है। मैं चाहता हूँ कि इसी दिशामें मेरे प्रयोग हों।

मेरी ये कविताएँ अपना पथ ढूँढ़नेवाले बेचैन मनकी ही अभिव्यक्ति हैं। उनका सत्य और मूल्य उसी जीवन-स्थितिमें छिपा है।

—ग॰ मा॰ मुक्तिबोध

आत्मा के मित्र मेरे

वह मित्र का मुख
ज्यों अतल आत्मा हमारा बन गयी साक्षात् निज सुख।
वह मधुरतम हास
जैसे आत्म परिचय सामने ही आ रहा है मूर्त हो कर।
जो सदा ही मम हृदय अन्तर्गत छिपे थे
वे सभी आलोक खुलते जिस सुमुख पर!
वह हमारा मित्र है,
आत्मीयता के केन्द्र पर एकत्र सौरभ। वह बना
मेरे हृदय का चित्र है!
जो हृदय-सागर युगों से लहरता,
आनन्द में व्याकुल चला आता
कि नीला गाल क्षण-क्षण गूँजता है
उस जलधि की श्याम लहरों पर जुड़ा आता
सघनतम श्वेत, स्वर्गिक फेन, चंचल फेन!
जिसको नित लगाते निज मुखों पर स्वप्न की मृदु मूर्तियाँ सी
अप्सराएँ साँझ प्रात
मृदु हवा की लहर पर से सिन्धु पर रख अरुण तलुए
उतर आतीं, कान्तिमय नव हास ले कर।
उस जलधि की युग-युगों की अमल लहरों पर
जुड़ा जो फेन,
अन्तर के अतल हिल्लोल का जो बाह्य है सौन्दर्य—
कोमल फेन।
जिसके आत्म मन्दिर में समर्पित,

दु ख-सुखो की साझ प्रात जो अकेला
याद आता मुख हमे नित ।

काल की, परिवतना की तीव्र धारा मे वहा जाता
मधुरतम साथ जिसका,
प्राण की उत्थान गति की तीव्रता म
वह रहा उच्छवास जिसका,
जो हमारी प्यास मे नित पास है—
व्यक्तित्व का सौरभ लिये, व्याकुल निशा सा
निकटता के निज क्षणा म
जो कि उर की बालिका का मौनतम विश्वास है ।
जो झेलता मेरे हृदय को निज हृदय पर
आत्म-उन्मुक्तीकरण की खुली बेला म कि जब
दो आत्माएँ
बालको सी नग्न हो कर खडी रहती
दिव्य नयना म सहजतम-बोध नीलालोक ल कर ।
वह परस्पर की मृदुल पहचान, जैसे पूण
चन्दा खोजता हो
उमडता नि सीम निस्तल
कूलहीना श्यामला जल राशि म प्रतिविम्ब अपना,
हास अपना,
वह परस्पर की मृदुल पहचान जैस
अतल गर्भा भव्य धरती हृदय के निज कूल पर
मदु स्पश कर पहिचान करता, गूढतम उस विशाद
दीघच्छाय श्यामल-काय बरगद वृक्ष की,
जिसके तले आश्रित अनेकों प्राण,
जिसके मूल पृथ्वी के हृदय मे टहल आये, उलझ आये ।

मित्र मेरे,
आत्मा के एक !
एकाकीपने के अन्यतम प्रतिरूप !
जिससे अधिक एकाकी हृदय।
कमजोरियों के एकमेव दुलार
भिन्नता में विकसे रूप वह तुम अभिन्न विचार
बुद्धि को मेरी गलाया के अरुणतम नग्न जलते तेज
कर्म के चिर वेग में उर वेग के उन्मेष।

पिता मन की स्नेह सीमा का जहां है अन्त,
छलछल मात उर के क्षमा-ज्ञान के परे जो लोक,
पत्नी के समर्पण दल की गाढ़ लिपि गन्धा के क्षितिज के पार,
जो विस्तृत बिछा है प्रान्त
तन्मय तिमिर छाया है जहां हिल डाल से भी दूर,
है केवल अकेला व्योम ऊपर श्याम
नीचे तिमिरगामी अचल धरती भी अकेली एक
तरु के तल भी केवल अकेला मौन
जिसकी दीर्घ शाखाएं बिछी निस्संग
जिसमें लटकती है एक स्मृति पहचान मन के
तिमिर कोने में स्वर्जित,

पत्ते भी खड़े चुपचाप सीने तान—
अपनी व्यक्तिमत्ता के सहारे जो चले हैं प्राण,
उनको कौन देता है
अचल विश्वास का वरदान !
उनको कौन देता है प्रखर आलोक
खुद ही जल
कि जैसे सूर्य !
अपने ही हृदय के रक्त की ऊषा

पथिक के क्षितिज पर बिछ जाय,
जिससे यह अकेला प्रान्त भी निःसीम परिचय की मधुर
संवेदना से
आत्मवत् हो जाय
ऐसी जिस मनस्वी की मनीषा,
वह हमारा मित्र है
माता पिता-पत्नी सुहृद् पीछे रहे हैं छूट
उन सबके अकेले अग्र में जो चल रहा है
ज्वलत् तारक-सा,
वही तो आत्मा का मित्र है।
मेरे हृदय का चित्र है।

दूर तारा

तीव्र गति
अति दूर तारा
वह हमारा
शून्य के विस्तार नील म चला है।

और नीचे लोग
उसको देखते हैं, नापते हैं गति उदय औ अस्त का
इतिहास।

किन्तु इतनी दीर्घ दूरी,
शून्य के उस कुछ-न होने से बना जो नील का आकाश
वह एक उत्तर
दूरबीनों की सतत आलोचनाओं को,
नयन-आवत के सीमित निदर्शन या कि दर्शन-यत्न को।
वे नापने वाले लिखें उसके उदय औ अस्त की गाथा,
सदा ही ग्रहण का विवरण।
किन्तु वह तो चला जाता
व्योम का राही,
भले ही दृष्टि के बाहर रहे—उसका विषय ही
बना जाता।

और जाने क्यों,
मुझे लगता कि ऐसा ही अकेला नील तारा,
तीव्र-गति
जो शून्य म निस्सग

जिसका पथ विराट्—
वह छिपा प्रत्येक उर में,
प्रति हृदय के कल्मषों के बाद
जैसे बादलों के बाद भी है शून्य नीलाकाश।
उसमें भागता है एक तारा,
जो कि अपने ही प्रगति पथ का सहारा,
जो कि अपना ही स्वयं बन चला चित्र,
भीतिहीन विराट पुत्र।

इसलिए प्रत्येक मनु के पुत्र पर विश्वास करना चाहता हूं।



खोल आँखे

जिस देश प्राणो की जलन म
एक नूतन स्वप्न का सचार हो,
जो हृदय मेरे उस ज्वलन की भूमि म खिंच जा स्वय ही,
ओ तडप कर उस निराल देश म तू खोल आँखें।
देख—जल्न स्पदनो म क्या उलझता ही गया है,
जो नयी चिगारियाँ
नव स्वप्न का आलोक ले
उत्पन्न होती जा रही हैं
उन सबलतम, तीव्र, कोमल देश की
चिनगारिया म
जो खिले हैं स्वप्न रक्तिम,
देख ल जी भर उन्हे तू।
उस असीम विकल रस को पी स्वय भी।
वह महा व्याकुल अनावृत ज्ञान लिप्सा
रख रही निज म अनावृत एक सपना—
सहस्रो स्वर्गीय स्वप्ना स वहत्तर
स्वप्न का वह व्योम नीला
प्राण पथ्वी पर झुका है।
उस महा व्याकुल अनावृत ज्ञानलिप्सा
के क्षितिज पर
जो खिचा है स्वप्न—
श्रावण-साँझ के विस्तरित घनो पर
अमिन नीला जामुनी, अति लाल सुदर

दिवस की बरसात को सूर्यास्त का चुम्बन
कि ऐसा अद्वितीय
मधुरतम
आश्चर्यमय।
वह ज्ञान लिप्सा क्षितिज सपना
रे, वही तुझम अनेकों स्वप्न देगा।
औ' अनेकों सत्य के शिशु
नव हृदय के गभ म द्रुत
आ चलेंगे।

आत्मा मेरी—
उस ज्वलन की भूमि म तू स्वय बिछ ल
देख, जलते स्पन्दनो म क्या उलझता हो गया है।



अशक्त

क्या हमारे भाव शब्दातीत हैं ?
या तुम्हारा रूप भावातीत है ?
हम न गा सकते तुम्हारा गीत हैं
वह हृदय गम्भीर, नीरव स्मित है ।

यह विशद जीवन कि जो आकाश सा
या कि निर्झर सा चपल लघु तीव्र है
क्या पूर्ण है ? क्या तृप्ति पाता शीघ्र है
वह ग्रीष्म सा है या मदिर मधुमास सा ?

हम लिखें कविता विरह पर, दुःख पर
या मधुर आराधना पर, युद्ध पर
या रचें विज्ञान जीवन के बने—
प्रश्नमय जो अंग सन्तत क्रुद्ध पर ?

खींच लें हम चित्र जीवन में बहे
रम्य मिश्रित रंग धारा के नवल
चकित हो लें उल्लसित हो लें कभी
दुःख ढा लें तत्त्व चिन्ता कर सकल ।

किन्तु यह सब तो सतह की चीज़ है,
भार बन मेरे हृदय पर छा रही ।
या कि बहती सरित के ऊपर तह
बर्फ़ की जमती चली ही जा रही ।

पान्थ है प्यासा, थका-सा धूप में
पीठ पर है ज्ञान की गठरी बड़ी,
झुक रही है पीठ, बढ़ता बोझ है
यह रही बेगार की यात्रा कड़ी।

अथ खोजी प्राण ये उद्दाम हैं,
अथ क्या? यह प्रश्न जीवन का अमर।
क्या तृषा मेरी बुझेगी इस तरह ?
अथ क्या ? ललकार मेरा है प्रखर।

जब कि ऐसा ज्ञान मेरे प्राण में
तृप्ति मधु उत्पन्न करता ही नहीं,
जब कि जीवन में मधुर सम्पन्नता,
ताजगी, विश्वास आता ही नहीं,

जब कि ज्ञानाकुल तृषित मन खोजता
बाहरी मरु में अमल जल-स्रोत है,
क्या न विद्रोही बनें ये प्राण जो
सतत अन्वेषी सदा प्रद्योत हैं ?

जब कि अन्दर खोखलापन कीट-सा
है सतत घर कर रहा आराम में,
क्या न जीवन का वृहद् अश्वत्थ यह
डर चले तूफान के ही नाम से।



मेरे अन्तर

मेरे अन्तर, मर जीवन के सरल यान,
तू जबसे चला रहा बेघर,
तन गह म हो पर मन बाहर
आलोक तिमिर सरिता पवत कर रहा पार।
वह सहज उठा ले चला सुदृढ तपन जीवन का महा ज्वार,
उसके द्रुत गति प्रति पदक्षेप स मुखरित हो उठ रहा गान,
जो नय तज का भव्य भान।
घर की स्नेहल कोमल छाया म रहा महा चचल अधीर।
व मदुल थपकिया स्नेह भरी
व शशि मुसकानें शुभ्र री
सबको पाया, सबको पला पर स्वय अकेला बढा धीर।
जीवन-तम का सगीत मधुर करता उर सरि का वन्य नीर
ऐसा प्रमत्त जिसका शरीर उन्मत्त प्राण मन विगत पीर॥

यह नहीं कि वह था तुग पुरुष
जो स्वय पूण गत दु ख हष
पर ले उसके धन ज्योतिष्कण जो बढा माग पर अति अजान।
उसके पथ पर पहरा दत ईसा महान् व स्नेहवान्।
छाया बनकर फिरते रहते व शुद्ध बुद्ध सम्बुद्ध प्राण॥
यह नहीं कि करता गया पुण्य
उसका अन्तर था सरल वन्य
तम म घुसकर चक्कर खाकर वह करता गया अबाध पाप।
अपनी अक्षमता म लिपटी यह मुक्ति हो गयी स्वय शाप।

पर उसके मन में बैठा वह जो समझौता कर सका नहीं,
जो हार गया, यद्यपि अपने में लड़त-लड़त थका नहीं,
उसने ईश्वर-संहार किया, पर निज ईश्वर पर स्नेह किया।
स्फुरणा के लिए स्वयं को ही नव स्फूर्ति मोनका ध्येय किया
वह आज पुनः ज्योतिष्करण हित
घन पर अविरत करता प्रहार,
उठते स्फुलिंग
गिरते स्फुलिंग
उन ज्योति क्षणों में देख लिया
करता वह भव्य महदाकार।
सन्नद्ध हुआ वह ज्वाल विद्ध करने को सारा तम प्रसार,
वह जन है जिसके उच्च भाल पर
विश्व भार औ' अन्तर में
निःसीम प्यार।।

मृत्यु और कवि

घनी रात, बादल रिमझिम हैं, दिशा मूक, निस्तब्ध वनान्तर
व्यापक अन्धकार में सिकुड़ी सोयी नर की बस्ती, भयंकर
है निस्तब्ध गगन, रोती सी सरिता धार चली गहराती
जीवन लीला को समाप्त कर मरण सेज पर है कोई नर।
बहुत संकुचित छोटा घर है, दीपालोकित फिर भी धुँधला,
वधू मूर्छिता, पिता अर्द्ध मृत, दुखिता माता स्पन्दन हीना।
घनी रात, बादल रिमझिम हैं, दिशा मूक, कवि का मन गीला।
'यह सब क्षणिक, क्षणिक जीवन है, मानव जीवन है क्षण भंगुर'
ऐसा मत कह मेरे कवि, इस क्षण संवेदन से हो आतुर
जीवन चिन्तन में निर्णय पर अकस्मात् मत आ, ओ निर्मल!
इस वीभत्स प्रसंग में रहो तुम अत्यन्त स्वतन्त्र निराकुल
भ्रष्ट न होने दो युग युग की सतत साधना महाराधना,
इस क्षण भर के दुख भार से, रहो अविचलित, रहो अचंचल।
अन्तर्दीपक के प्रकाश में विनत प्रणत आत्मस्थ रहो तुम
जीवन के इस गहन अतल के लिए मृत्यु का अर्थ कहो तुम।

क्षण भंगुरता के इस क्षण में जीवन की गति, जीवन का स्वर
दो सौ वर्ष आयु यदि होती तो क्या अधिक सुखी होता नर?
इसी अमर धारा के आगे बहने के हित यह सब नश्वर,
सृजनशील जीवन के स्वर में गाओ मरण गीत तुम सुन्दर।
तुम कवि हो, ये फैल चलें मृदु गीत निर्बल मानव के घर घर
ज्योतित हों मुख नव आभा से, जीवन की गति, जीवन का स्वर।



नूतन अह

कर सको घृणा
क्या इतना
रखते हो अखण्ड तुम प्रेम ?
जितनी अखण्ड हो सके घृणा
उतना प्रचण्ड
रखते क्या जीवन का व्रत-नेम ?
प्रेम करोगे सतत ? कि जिसमे
उसमे उठ ऊपर बह लो
ज्यो जल पृथ्वी के अन्तरग
म घूम निकल झरता निमल वैसे तुम ऊपर बह लो ?
क्या रखते अन्तर में तुम इतनी ग्लानि
कि जिससे मरने और मारने को रह ने तुम तत्पर ?
क्या कभी उदासी गहिर रही
सपना पर, जीवन पर छायी
जो पहना दे एकाकीपन का लौह वस्त्र, आत्मा के तन पर ?
है खत्म हो चुका स्नेह-कोप सब तेरा
जो रखता था मन म कुछ गीलापन
और रिक्त हो चुका सब रोप
जो चिर विरोध में रखता था आत्मा म गर्मी, सहज मन्यता
मधुर आत्म विश्वास।
है सूख चुकी वह ग्लानि
जो आत्मा का बेचैन किये रखती थी अहोरात्र
कि जिसमे देह सदा अस्थिर थी, आँखें लाल, भाल पर

तीन उग्र रखाएँ अरि के उर म तीन शलाकाएँ सुतीक्ष्ण,
किन्तु आज लघु स्वार्थो म घुल, म दन विह्वल,
अन्तमन यह टार रोड के अ दर नीचे बहने वाली गटरा से भी
है अस्वच्छ अधिक,
यह तेरी लघु विजय और लघु हार ।
तेरी इस दयनीय दशा का लघुतामय ससार
अहभाव उत्तुग हुआ है तेरे मन मे
जैसे घूरे पर उट्ठा है
धृष्ट कुकुरमुत्ता उ मत्त ।



विहार

रवि का प्रकाश,
शशि का विकास—
पुसत्वहीन नर का विलास ।
ये सूर्य-चन्द्र,
नभ-वक्ष लुब्ध,
व अमित वासना के शिकार ।
वे गगन दीन
वे रसिक रुग्ण,
पुसत्वहीन वेश्या विहार ।
इनका प्रकाश
जग के विशाल
घाव का सफेद परिधान साफ ।
है त्यक्त गेह
आत्मा अदेह
उड चली गटर से बनी साफ ।

[२]

दिन के बुखार
रात्रि की मृत्यु
के बाद हृदय पुसत्वहीन,
अन्तर्मनुष्य
रिक्त-सा गेह
दो लालटेन-से नयन दीन,
निष्प्राण स्तम्भ

दो खडे पाँव
लक्डी का खोखा वक्ष रिक्त,
मस्तिष्क तेल
को है मशीन
ससार क्षेत्र है तल सिक्त ।
दिन के वुखार
रात्रि की मत्यु
के बाद हृदय दु ख का नरक
रात्रि के शून्य
दो देह युक्त—
दो रिक्त प्राण व्यग्य म गक ।

■

पूँजीवादी समाज के प्रति

इतने प्राण, इतने हाथ, इतनी बुद्धि,
इतना ज्ञान, संस्कृति और अंतःशुद्धि
इतना दिव्य, इतना भव्य, इतनी शक्ति
यह सौंदर्य, वह वैचित्र्य, ईश्वर भक्ति,
इतना काव्य, इतने शब्द, इतने छन्द—
जितना ढोंग, जितना भोग है निर्बन्ध,
इतना गूढ़, इतना गाढ़, सुंदर जाल—
केवल एक जलता सत्य देने टाल।
छोड़ो हाय, केवल घृणा औ' दुर्गन्ध
तेरी रेशमी वह शब्द-संस्कृति अंध
देती क्रोध मुझको, खूब जलता क्रोध
तेरे रक्त में भी सत्य का अवरोध
तेरे रक्त से भी घृणा आती तीव्र
तुझको देख मितली उमड़ आती शीघ्र
तेरे ह्रास में भी रोग-कृमि हैं उग्र
तेरा नाश तुझ पर क्रुद्ध, तुझ पर व्यग्र।
मेरी ज्वाल, जन की ज्वाल होकर एक
अपनी उष्णता से धो चलें अविवेक
तू है मरण, तू है रिक्त, तू है व्यर्थ
तेरा ध्वंस केवल एक तेरा अर्थ।

■

गजानन मुक्तिबोध

नाश देवता

घोर धनुर्धर, बाण तुम्हारा सब प्राणों को पार करेगा,
तेरी प्रत्यंचा का कम्पन सूनेपन का भार हरेगा।
हिमवत् जड़ निःस्पन्द हृदय के अंधकार में जीवन भय है।
तेरे तीक्ष्ण बाण की नोकों पर जीवन-संचार करेगा।

तेरे क्रुद्ध वचन बाणों की गति से अन्तर में उतरेंगे
तेरे क्षुब्ध हृदय के शोले उर की पीड़ा में ठहरेंगे।
कोपित तेरा अधर संस्फुरण उर में होगा जीवन-वदन
रुष्ट दृगों की चमक बनेगी आत्म-ज्योति की किरण सचेतन।

सभी उरों के अन्धकार में एक तड़ित् वेदना उठेगी
सभी सृजन की बीज वृद्धि हित जड़ावरण की मही फटेगी।
शत शत बाणों से घायल हो बढ़ा चलेगा जीवन-अंकुर।
दर्शन की चेतन किरणों के द्वारा काली अमा हटेगी।

हे रहस्यमय, ध्वंस महाप्रभु, जो जीवन के तेज सनातन,
तेरे अग्निकणों से जीवन, तीक्ष्ण बाण से नूतन सृजन।
हम घुटने पर नाश-देवता! बैठ तुझे करते हैं वन्दन,
मेरे सिरपर एक पैर रख नाप तीन जग तू असीम बन।



सृजन क्षण

जो कि तुम्हारे गत बने हैं अक्षमता के,
उन पर लहराकर भरता मैं एक अवज्ञा।
वही गभीर अतल होते हैं,
वे ही सदा अमल होते हैं,
फिर जाती जिन पर कृपा सी मेरी प्रज्ञा।

जब कि स्वयं मैं सुन्न बना हूँ
प्रज्ञा का अन्तर पाकर ही,
सदा रहूँ उनका चाकर ही
वे कि जिन्होंने आत्मरक्त से मुझको सींचा।
कैसे हँस सकता हूँ मैं उन पर ही।

उनकी मर्यादाएँ पाकर
दरिया अमर्याद लहराया,
अपने स्वर मे स्वरातीत गीता दुलराता
मैंने अरे उसीको पाया।

ये अपूर्णताएँ, ईर्ष्याएँ
मुझमें घुलकर घुलकर बनती सूत्र सनातन,
यह छिछलापन लघु अन्तर का
क्षण क्षण नूतन को करता है शीघ्र पुरातन।
यों नूतन की विजय चिरन्तन,
महामरण पर महाजन्म का उदय क्षिप्रतर,
महाभयंकर से बहता है परम शुभंकर।

जो खण्डित औ' भग्न रहे हैं,

वे अखण्ड देवता उन्हीं के
मुझमें आकर मग्न हुए हैं।
ये आंसू ये चिन्ता के क्षण
मुझमें आकर, पा परिवर्तन
जग के सम्मुख नग्न हुए हैं।
ओ रे भग्न नग्न मलिनों के
खण्डित उग्र विकल के सागर,
ओ कुरूप वीभत्स सनातन
की प्रतिनिधि प्रतिभा के आगर
अरे अशिव बौने मस्तक के
चिरविद्रूप स्वप्न आत्मान्तक
अरे अमंगल हास, घृणित आनन्द,
मरण के सदा उपासक,
भय मत खाओ, अरे पिशाचो
जब कि सत्य तुम बने हुए हो।
अन्धकार में, किसी आड में,
किसी झाड की छाया में तुम
क्या छिपते हो ? अरे भयंकर
व्रण-से जग की काया में तुम !
मैं स्वागत करता हूं सब का
क्योंकि प्रकृति से सूर्य-सत्य हूं।
और जब कि तुम भय्य तने हो
मुझमें जलते स्वर्ण बनोगे
ज्वालाओं का नग्न नृत्य हूं,
नभ की पृष्ठभूमि पर मेरी ज्वाला की छाया फिरती है
काल झुलसता है, मुझसे सब तस्वीरें बनती गिरती हैं।
पर यह कैसे ? जब कि तुम्हारे
लिए बना हूं मैं प्रखर प्रभ

मेरे स्वर्ण-स्पर्श से आकुल
होता है अपार जीवन नभ।
मै उत्साह अनन्त, और तुम क्या उदास अति अक्षम ?
मेरी ममता हो जाती है पर कठोर औ' निर्मम।
गर्वशील मुझको मत समझो,
किन्तु भार गुरु पाकर मैं भी
निज नयनो म हुआ भव्य हूँ उत्साहित हूँ।
यह उत्साह सफेद ज्वाल हैं
जो कि कलुष का महाकाल है,
इसमें पड़कर तुम भी श्वेत बनोगे तपकर।
नाप कौन पायेगा तुमको
आओगे जब इससे नपकर।
मैं केवल तुम पर जीवित हूँ
मेरी सांस, किन्तु तेरा तन,
मेरी आस और तेरा मन,
तू है हृदय और मैं लोचन
म हू पूर्ण, अपूर्ण झेल कर।
मैं अखण्ड, खण्डित प्रतिभा पर।
मैं मैली आंखो के अन्दर ज्योति गुप्त हूँ।
मैं मैल अन्तर के तल म
घन सुपुप्त आत्मा प्रतप्त हूँ।
मैं हूँ नम्र धूलि के कण-सा
मैं अजस्र पृथ्वी के मन-सा,
घन मृत्कण म सृजन-क्षण मैं,
मलिना म रह अग्नि बिन्दु हूँ,
जीवन की सौन्दर्य शान्ति म
नभोविहारी शरद इन्दु हूँ।

गजानन मुक्तिबोध
१

शुभ्रारुण किरणों से बिम्बित
रजत नील सर उत्कट उज्ज्वल
जिसमें अनलोर्मिल, अनिलोर्मिल
कमल खिले हैं वे रक्तोत्पल ।
मनोमूर्ति यह चिरप्रतीक है
ध्येय धृष्ट उर की ज्वालामय ।
मेरी प्रज्ञा का सृजन क्षण
ऐसा ऊष्ण शुभंकर तन्मय ।



अन्तर्दर्शन

मैं अपने से ही सम्मोहित, मन मेरा डूबा निज में ही ।
मेरा ज्ञान उठा निज में से, मार्ग निकाला अपने से ही ॥
मैं अपने में ही जब खोया तो अपने से ही कुछ पाया ।
निज का उदासीन विश्लेषण आँखों में आँसू भर लाया ॥
मेरा जग से द्रोह हुआ पर मैं अपने से ही विद्रोही ।
गहरे असन्तोष की ज्वाला सुलग जलाती है मुझको ही ॥
आत्मवंचना पीड़ित मेरा तिमिर मगन उर बिम्बित मुख पर ।
सिहर उठा मैं अश्रु-मलिन मुख, अपने अन्तर के दर्शन कर ॥
मैंने मरण चिन्तना की, जब जीवन का था दर्द बढ़ चला ।
मानवता का कटु आलोचक अपने को ही दण्ड दे चला ॥
मेरा मन गलता निज में जब अपने से ही हार खा चुका ।
दारुण क्षोभ अग्नि में अपना प्रायश्चित्त प्रमाद पा चुका ॥
रक्त-स्रोत अन्तर से फूटा लाल-लाल फव्वारा दुख का ।
आत्म-दाह की ज्वलित पिपासा के युग में आया क्षण सुख का ॥
रक्त-स्रोत अन्तर से फूटा, मेरा गात शिथिल हिम शीतल ।
मैंने साक्षात् मृत्यु देख ली एक रात सपने में उज्ज्वल ॥
मैंने यह जब कहा किसी से तो कहलाया अपना खूनी ।
जीवन-दाह-शान्ति हित किसकी गोद अपेक्षित ऊनी-ऊनी ॥



आत्म संवाद

[यह एक नाटकीय आत्म-संवाद है जिसमें प्रश्नोत्तर में बाहरी वास्य कार्यक्रम नहीं है। जो कार्यक्रम है वे यथार्थ आभ्यन्तरिकियाँ हैं और जो उसके बाहर है वे उसके यथार्थ रेशनलाइज़ेशन हैं। बाहरी ज़िन्दगी में ये रेशनलाइज़ेशन सामने आते हैं किन्तु कुछ क्षणों में मन की यथार्थ अवस्था एकाएक खिंच आती है। तब इन दोनों का विरोध मन में चित्र-रूप-सा सामने आता है। *उसीको नाटकीय ढंग से पेश किया गया है।*]

आज छन्दों में उमड़ती आ रही है बात
जो कि सादे गद्य में खुलती रही
जो कि साधारण सड़क चलती रही
आज छाती में घुमड़ती आ रही है बात
रास्ता है पैर हैं औ ध्येय चलता जा रहा है
(किन्तु उर में क्या उदासी शाप सी
प्रत्येक चेहरे पर लिपी जो राख सी)
प्राण हैं औ बुद्धि का भी कार्य चलता जा रहा है
वक्ष है, बल है हृदय में ओज भी तो कम नहीं है
(किन्तु उर में अश्रु हैं अति म्लान भी
विवशता का है सहज अनुमान भी)
स्नेह है आदर्श है, औ तेज भी तो कम नहीं है
तर्क है औ तर्क का राक्षस हमारे बाहु में है।
(किन्तु चिन्ता गुनगुनाती असगुनी
मौन ले बैठी व्यथा बनकर मुनी)
चन्द्र का माधुर्य उर के राहु में है।
चुप रहा तुम तार-सा आगे चला जाता सदा मैं।
(भुनभुनाता यह हृदय चुपचाप है,

गुनगुनाता जो मनुज का शाप है)
निझरा सा मैं चपल बहता चला गाता सदा म ।
मूर्ति मैं भव्योच्च, मदु-गम्भीर, त मय, पूजनीया
(कि तु उर है हिम कठिन नि सज्ञ भी
हृदय म शका भरी है वज्र सी)
सत्य की व्याख्या स्वय हू !! (जो सदा है शोधनीया)
सफल हूं (पथभ्रष्ट हूं) अविजेय हूँ (आधीन हूं म)
हृदय मे घुन सा लगा रहता
(पाप यह दारण जगा रहता)
मै महाशोधक महाशय सत्य जल का मीन हूँ म
सत्य का मैं ईश औ मै स्वप्न का हू परम स्रष्टा
(कि तु सपने ? प्राण की है बुरी हाल्त
और जजर दह , यह है खरी हालत)
उग्र द्रष्टा मैं स्वयं हूं जब कि दुनिया माग भ्रष्टा ।



व्यक्तित्व और खंडहर

[व्यक्तित्व किन्हीं भी कारणों से विकेंद्रित हो, परन्तु उसके लिए पुकार अवचेतन से, जो कि जीवन-शक्ति का रूप है, निकट सम्बन्ध रखती है। वह समग्रता की ओर, मनस्संगठन की ओर का प्रयत्न केवल बुद्धिगत ही नहीं शुद्ध जीवनगत है। परन्तु यह विकेंद्रीकरण अंतर्बाह्य विरोध, परिस्थिति-विरोध, आत्मविरोधों के द्वारा शुरू होता है।

यह विकेंद्रित व्यक्तित्व यानी व्यक्तित्व का खंडहर किसी अबूझ समय में अपने गत वैभव पर रो उठता है। उसी का कल्पनात्मक चित्रण निम्न कविता है।]

खंडहरों के मूक औ निस्पन्द से
उमड़े अकेले गीत।
ये भूत से निर्देह भयंकर
बेचैन काले व्यथित आतुर
तिमिर नूपुर के अकल स्वर,
उमड़े अकेले गीत।
हुए चंचल भयद श्यामल
भूत सम आकुल अकेले गीत
रात में जब छा चुका खंडहर तिमिर में
तिमिर खंडहर में,
घूमते उस कांपती-सी वायु के स्वर में
अकेले गीत!
तम आवरण में लुप्त झरती धार के तट पर
रागिनी में म्लान तन-मन करुण रोदन गीत
भर चला जाता विपिन के पात पुष्पों में प्रकम्पन
शिथिल उर गम्भीर सिहरन।

ये अकेले गीत
दब चुकी जो मर चुकी है आत्मा,
खत्म जो हो ही गयी आकांक्षा,
व्यक्ति में व्यक्तित्व के खँडहर
गान कर उठते उसी के गीत।
ये अकेले गीत, स्वरलयहीन गीत
मौन से बेचैन, लोचन-हीन गीत।

शीत रजनी काँप उठती
भर विजन के गीत, खँडहर गीत
ये अकेले गीत, पत्थर गीत, हिम के गीत
अन्धी गुफा के गीत!
बेचैन भूतों से, व्यथित के स्वप्न से वे गीत!
वे दुष्ट औ' दयनीय गीत,
कमज़ोर औ' कमनीय गीत,
उन्माद की तृष्णा सरीखे गीत!
स्वप्न की विक्षुब्ध सरिता के भयानक गीत!
निशि के अकेले औ' अचानक गीत!

विपिन औ' निर्झर,
तिमिर के घन आवरण में, भावना के इस मरण में
हैं हुए भय स्तब्ध, तन निस्पन्द, दिग् रव-हीन
क्योंकि आलोड़ित हुआ विक्षुब्ध गीतों का महा तूफ़ान,
ले तीक्ष्ण स्वर-सागर-उफान!
तम शून्य में नभ के प्रवाहित हो चला भूचाल-सा यह गान
इस शीत स्वर से
षड्दायी स्पन-दार निर्झर प्रखर से
हुआ आप्लावित मदित वन का सतत कमज़ोर प्रान्तर प्राण

दब चुकी जो, मर चुकी है भावना,
खत्म जो हो गयी, आकांक्षा।
आज चढ वठी अचानक भूत सी इस शापित नर पर
विक्षु र कम्पन बन चढी जाती सरल स्वर पर
प्रश्न एकर कठिन उत्तर साथ लकर
रात के सिर पर चढी है, नाश का यह गीत बनकर।
हस पडेगी कन सहज प्रकाश का यह गीत बनकर।



मैं उनका ही होता

मैं उनका ही होता, जिनसे मैंने रूप भाव पाये हैं।
वे मेरे ही हिये बँधे हैं जो मर्यादाएँ लाये हैं।

मेरे शब्द, भाव उनके हैं,
मेरे पैर और पथ मेरा,
मेरा अन्त और अथ मेरा,
ऐसे किन्तु चाव उनके हैं।

मैं ऊँचा होता चलता हूँ
उनके ओछेपन से गिर गिर,
उनके-छिछलेपन से खुद-खुद,
मैं गहरा होता चलता हूँ।

गजानन मुक्तिबोध

हे महान् !

हे महान् ! तव विस्तृत उर से
दृढ परिरम्भण की क्षमता दो,
तव स्नेहोष्ण हृदय का स्पन्दन
सुन पाने को आकुलता दो।
जिसमें विश्व रहस्य खोल दे
सत्य कि विद्युत् विह्वलता दो।
जो तुझसे संघर्ष कर सके
ऐसी उर में कोमलता दो।
तुझसे कर संघर्ष, स्पर्श से
तेरे नव चेतनता आये,
तुझसे करके युद्ध क्रुद्ध हो
जीवन यह ऊंचा उठ जाये।
तेरे तन के अणु अणु से तव
निरावरण हो अन्तर्ज्वाला,
एक एक अणु सत्य खोल दे
ऐसी सतह स्वयं चल आये!
तेरे उर की मर्म-ज्वाला का
मुक्त खोलने की क्षमता दो,
हे महान् ! तव विस्तृत उर से
दृढ परिरम्भण की क्षमता दो

■

पुनश्च

पिछले बीस वर्षों में न मालूम कितनी बातें घटित हुई हैं। वे सबके सामने हैं। मेरी अपनी ज़िन्दगी जिन तंग गलियों में चक्कर काटती रही, उन्हें देखते हुए यही मानना पड़ता है कि साधारण श्रेणी में रहनेवाले हम लोगों का अस्तित्व-संघर्ष के प्रयासों में ही समाप्त होता है। मेरा अपना दीर्घ अनुभव बताता है कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की वास्तविक स्थिति केवल उनके लिए है जो उस स्वातन्त्र्य का प्रयोग करने के लिए सुपुष्ट आर्थिक अधिकार रखते हों, जिससे कि वे परिवार-सहित मानवोचित जीवन व्यतीत कर सकें और साथ ही व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का ऐसा प्रयोग भी कर सकें जो विवेकपूर्ण हो और रुच्यानुकूल हो। अपने जीवन के आर्थिक आधार को दृढ़ और सुपुष्ट करने के लिए व्यक्तिगत व्यवसायाचरण की माँग भी सामने आती है। मेरे लेखे यह अत्यन्त अनुचित माँग है और कम-से-कम मैं उसे कभी स्वीकार नहीं कर पाया, लेकिन वह माँग तो सामने आती ही है और व्यवसायाचरण-व्यापाराचरण का दबाव तो तीव्रतर होता जाता है। सच तो यह है कि व्यक्ति की सच्ची आत्म-परीक्षा, उसकी आध्यात्मिक शक्ति की परीक्षा का सबसे प्रधान समय, उस इम्तिहान का सबसे नाज़ुक दौर यही आज का युग है।

जीवन और परिवेश की विषमता की यह स्थिति आभ्यन्तर लोक में भी दुःस्थिति उत्पन्न करती है, यह एक दारुण सत्य है। मैं कहूँ कि यह मेरा अपना भी सत्य है। परिणामतः स्वाधीनता के इस युग में मेरी कविता सघन बिम्ब-मालिकाओं में अधिकाधिक प्रकट होने लगी। अचानक अन्तर्मुख दशाएँ और भी दीर्घ और गहन होती गयीं। किन्तु यह भी एक तथ्य है कि इस आत्मग्रस्तता के बावजूद और ठीक उसी के साथ-साथ मेरा आत्म-संवेदन समाज के व्यापकतर लोक से जुड़ गया। कविता का कलेवर भी दीर्घतर होता गया। परिणामतः मेरी कविताएँ वर्तमान मासिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशन के योग्य भी नहीं रह गयीं।

यहाँ जो नयी कविता दी जा रही है और जो सन् १९६२ की हैं

रचना है अपेक्षाकृत छोटी है। इसमें और छोटी रचनाएँ शायद मैं अब लिख नहीं सकता। भाव-प्रवृत्तियों की सर्वात्मता यह कविता मेरा प्राय सर्वांगीण प्रतिनिधित्व करती है। जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट है, यह मेरी इस टिप्पणी को और आगे बढ़ाती है और कदाचित् उसके बाद यह टिप्पणी भी अनावश्यक हो जाती है।

—गजानन मुक्तिबोध

एक आत्म-वक्तव्य

और, जब
मेरा सिर दुखने लगता है,
धुँधले धुँधले अकेले म, आलोचना शील
अपने म से उठे धुएँ की ही चक्करदार
सीढिया पर चढने लगता हूँ ।

और हर सीढी पर लुढकी पडी एक-एक देह
आलोचन-हत मेरे पुराने व्यक्तित्व,
भूतपूव, भुगते हुए, अनगिनत 'मैं' ।

उनके शवा, अध शवा पर ही रख कर
निज सव-स्पश पैर,
मेरे साथ चलने लगता भावी-कर-बद्ध
मेरा वतमान ।

किन्तु, पुन पुन ,
उन्ही सीढिया पर नये-नये आलोचक-नेत्र,
(तेज नाक वाले तमतमाये-से मित्र)
खूब काट छाट और गहरी छील-छाल,
रन्दा और बसूले से मेरी देख भाल,
मेरा अभिनव सशोधन अविरत
क्रमागत ।

अभी तक
सिर मे जो तडफडाता रहा ब्रह्माण्ड,

लटखड़ाती दुनिया का भरा मान चित्र
चमकता है दद भर अधेरे म वह
क्रमागत काण्ड ।

उसम नये-नये सवालो की थखमार,
थके हुए गिरते पडते, बढने का दौर,
मार काट करती हुई सन्यिा की चोख,
मुठभेड करत हुए स्वार्थों क बीच
भोल भाल लागा के माथा पर घाव ।
कुचल गये इरादो क बाको बचे धड
अधकटे परा हो से लात मार कर
अपने जस दूसरे के लिए
सब करते हैं दरवाजे बन्द—
उल्टे दिल दिमागा म गुस्स को धु ध ।
अधियाली गलियो म घूमता है,
तडक ही रोज
कोइ मौत का पठान
मागता है जिन्दगी जीने का ब्याज,
अनजाना कज
मागता है चुकार म, प्राणो का मास ।
हताहत स्वय को हो दर्दीली रात—
जोड तोड करती हुई गहरी काट छाट,
रोज नयी आफत, कोई नयी वारदात ।
पूरे नहो हो सके है मानवोय योग
हर एक के पास अपने अपने गुप्त रोग ।
(परशान चिन्तका की दार्शनिक चोख)
उजली उजली सफेदी म
कोखा की शाम,
(अधबने समाधानो)

भूणों का, अँधेरे में, क्रमागत जन्म,
सजन—मात्र उद्गार धर्म ।
सत्ताग्रही, अर्थाकांक्षी
शक्ति के कृत्य,
और, मेरे प्राणों में
सत्यों के भयानक
        केवल व्यंग्य नृत्य,
            व्यंग्य-नृत्य !!

उसी विश्व यात्रा में, चट्टानों बीच,
किसी झुकी सँवलायी साँझ
मुझे मिला
(हृदय प्रकाश सा) अकेले में
बिजली से जगमगाता घर,
जिस के इर्द गिर्द
कुछ अँधियाले पेड़
मानो सधे हुए, घने
बहुत घने, बड़े बड़े दर्द ।
अचानक घर में से निकल आया एक
चौड़े माथे वाला, भोला, प्रतिभा का पुत्र
दुबला बाल मुख ।
पहचाना मुझे, और हँस चुप चाप,
मेरे खाली हाथों में रख गया
दीप्तिमान रत्न—
भयानक वीरानों में घूम कर
खोजा था जो सार सत्य
आत्म धन
छटपटाती किरनों का पारदर्शी सम्राट् जो,

किरनें कि आलाचनाशील, धारदार
उपाऱ्दान
जिन की तेज नोका से अकस्मात्
मरी काट छाट छील छाल
लगातार।
इसी लिए, मेरी मूर्ति
अनबनी अधबनी अभी तक

जिस लिये कहा जाऊ, सत्य हो का प्रश्न।
अपने इस अधबने पने का गरीब
यह दृश्य
पा न जाय, समाजो म, कही तिरस्कार,
अथहीन समर्थों के द्वारा कहीं यह
निकाला न जाय।
इसी लिए मुझे प्रिय अपना अधकार
गठरी म छिपा रखा निजी रेडियम,
सिर पर, टोकरी मे
छिपाया है मै ने कोई यीशु,
अपना कोई शिशु।

परन्तु मैं किसी पेड-पीछे-से झाक
लाख-लाख आखो से देखता हूँ दृश्य,
पूरे बने हुओ ही के ठाठदार अक्स,
ऐसा कुछ ठाठ—
मुझे गहरी उचाट,
लगता है व मेरे राष्ट्र के नही हैं।
उचटता ही रहता है दिल
नही ठहरता कही,

ज़रा भी।
यही मेरी बुनियादी ख़राबी।

और, अब नये-नये मेरे मित्र-गण
मेरे पीछे आये हुए युवा-बाल-जन,
धरित्री के धन,
खोजता हूँ उनमें ही
छटपटाती हुई मेरी आह,
क्या कहीं वहाँ मेरा रूपक उपमान,
छिपी हुई कहीं कोई गहरी पहचान,
समशील, समधर्मा कहीं कोई है?

अच्छा है कि अटाले में फेंका गया मैं
एक प्रेम पत्र,
किताबों में डाल, बन्द कर दी गयी अकल,
काली-काली गलियों में
फिरती हुई आदमी की शक्ल,
अच्छा है कि अँधेरे में इलाक़ा-बदर
मैं हूँ जवाबी ग़दर,
जिससे कि और ज़्यादा तैयारियाँ कर
आज नहीं कल फूट पड़ूँगा ज़रूर,
ज़रूर।

असम्यक इत्यादि जनों का मैं भाग
इसीलिए, अनदिखे,
सुलगाता धीरे-से आग,
जिसके प्रकाश में, तमतमाये चेहरों पर आप
संवेदित ज्ञान की काँपती ही

उठती है भाफ चुप चाप
रच्चा है जहाँ असन्तोष,
मेरा वहाँ परितोष ।
वहाँ ज्वाला पर टँगत हैं भिन्न मान चित्र,
चिनगियाँ बरसाते
लगातार विचारों के मत्र,
मेरे पात्र चरित्रों की
आँखों की अंगारी ज्योति
छलक कर पड़ती है मेरा प्रेम-पत्र ।
काँपता है वह मूल अय भरा
गैरिकी कोई स्मित स्निग्ध ।
यथार्थों से चला हुआ
स्वर्गों तक पहुँचता है
गणितो का किरणीला सेतु
पृथ्वी के हेतु ।
लेकिन हाँ, उसी के लिए दिन रात
नये नये रन्दो और बसूलो से
लगातार लगातार
मेरी काट छाँट
उनकी छील छाल अनिवार ।
ऐसी उन भयानक क्रियाओ मे रम
कटे पिटे चेहरो के दागदार हम
बनाते हैं अपना कोई अलग दिक् काल,
पृथक आत्म देश—
दृष्टि आवेश !
क्षमा करें, अन्य मति
अन्य मुख मेरे परिजन !!



भारतभूषण अग्रवाल

[अग्रवाल, भारतभूषण जन्म अगस्त १९१९ में मथुरामें शिक्षा मथुरा, चन्दौसी और आगरामें पायी। सन् १९४१ में एम० ए० पास किया। सन् १९४५ में विवाह हुआ। सन १९४१ में अचानक कलकत्ते आ टपका और तबसे इस महानगरके विशाल जालमें फँसा हूँ—नौकरीके चक्करमें।

कविता कहानी नाटक व्यंग्य लिखता हूँ। प्रकाशित रचनाओंमें दो कविता-संग्रह और एक एकांकी है। 'तुकके चमत्कारने मुझे कविताकी ओर आकर्षित किया और 'गुलशन गुप्ता' मासकी तरह कविता लिखी—गिन गिन कर। इसके बाद भी लिखता रहे इस शाहकनका असर बनाते हैं जो कि अब दूर होता जा रहा है।

'शौक दो ही थाजाको—सिनेमा और सिगरेट। आजकल राजनीतिका अध्ययन अच्छा लगता है। मार्क्सवादको आजके समाजके लिए रामबाण मानता हूँ। कम्युनिस्ट हूँ।'

१९४३—

अब कम्युनिस्ट नहीं हूँ। नहीं नहीं अब तो लगता है कि जब कहता था तब भी नहीं था। महानगरके विशाल जालमें एक फाँक पाकर जो भागा तो हाथरसकी तल्लयामें जा पड़ा। मिलमें काम तमाम रहता दिनभर मिल-मालिकका हुकुम बजाना और रातमें साम्यवादी साहित्य लिखना-पढ़ना। तीन साल मिलकी नौकरीके बाद प्रतीक में इलाहाबाद फिर आकाशवाणी में। 'यहाँकी बारह वर्ष बातनके बाद यहाँसे मुक्ति पाकर साहित्य अकादमीमें सहायक मन्त्री हूँ।

'लिखनेमें शाहकनका असर सदा रंग लाता रहा। मिलमें रहते ब्याह शादियोंके बगीत भी लिखे थे, तो रेडियोमें रहते नाटक और रूपक भी। तुकका का प्रारम्भ भी मिलमें ही हुआ था। अकादमीमें रहते हुए पहला उपन्यास 'लौटती लहरोंकी बाँसुरी' लिखा।

कविता-संग्रह जागते रहो के बाद कलकत्ता छोड़ा था (१९४५) 'मुक्ति मार्ग' के बाद हाथरस (१९४८) और 'ओ अप्रस्तुत मन' के बाद

आकाशवाणी (१९६०)। 'नया कविता-संग्रह छपाते डर रहा हूँ कि कहीं अकादेमी न छूट जाय। पर कब तक डरूँगा ?' (यह संग्रह भी छप गया है– अनुपस्थित लोग।)

■

स्कूलकी प्रारम्भिक कक्षाओंमें दूसरोंके पद्योंको कण्ठस्थ कर उनकी आवृत्ति करनेने ही सम्भवत मुझे कविताकी ओर प्रेरित किया और क्योंकि तुक' के कारण कण्ठस्थ करनेमें सुविधा होती थी इसलिए अनजानमें हा तुकको म महत्त्वपूर्ण मानने लग गया। फल यह हुआ कि कुछ ही दिनोंम म तुकबन्दी करने लग गया जिनमें जो न्यूनाधिक भाव होते थे वे सब उधार खाते कियाम मेरा अपना। और गलत तुक या कमजोर तुककी कविताको रद्दी कविता माननेकी मेरी आदत तो बहुत दिनों तक बनी रही।

स्कूलकी मीटिंगोंमें और उत्सव-आयोजनादिमें मुझे पद्य-आवृत्तिका जो यह काम करना पडा उसीने मुझसे कविता लिखायी। "यह मेरा लिखा नहीं ह" कहते-कहते म इतना तग आ गया कि मेरे अचेतनने निश्चय ही अपनेको इस गुण-गौरवसे विभूषित करना चाहा। इसीलिए मने प्रारम्भमें केवल सामयिक अवसर त्यौहार-पर्व आदिके उपयुक्त कविताएँ ही लिखी। और दूसराकी प्रशसाका लोभ ही मेरे काव्यकी आदि प्ररणा थी। तब कविता लिखनेमें जो तकलीफ मुझे होती थी उसको कुछ-कुछ इम्तहानमें प्रश्नोत्तर लिखनेकी तकलीफकी तरह म ऐसा था जिसका फल मीठा और आनन्ददायक होता ह। मेरी शुरूकी इन रचनाओंम जिन्हें आज पढनेपर हँसी आती ह मथिलीशरण गुप्तकी उपदेशात्मक शलीका प्रभाव बहुत ह। क्योंकि एक ओर उसका अनुकरण जितना आसान ह दूसरी ओर श्रोताओंको अनायास समझना भी उतना ही।

इस प्रकार अभ्यास करते-करते तुक और छन्दोंपर कब्जा प्राप्त कर ऐनक बाद जब म इंटरमीजिएट पहुँचा तभी धीरे धीरे मेरी कविताओंमें अपनी बात आन लगी। दूसरोकी चार कविताएं पढ लेनेके बाद अपनी एक लिख लेनेकी रीतिको छोड अब मैं उन बातोंको कहनेकी क्षमता और साहस पा सका जिन्हें मैं स्वय अनुभव करता था। और फिर एक ओर अपनी अति भावुक प्रकृतिके दूसरी ओर हिन्दी साहित्यमे विशेष

माहके तीसरी ओर कवि होनेकी अपनी विशेषताके गौरव और दम्भके और चौथी ओर कवितामें एक अजीब शान्ति पानेके कारण मैंने काफ़ी कविताएं लिखीं जिनमें-से अधिकांश स्वयंके लिए ही लिखी गयी थीं।

और आज जब मेरा काव्य-लेखन काफ़ी कम हो गया है और मैं कला कलाके लिए की प्रवचनाके मूल कारणको समझ पाया हूँ साथ ही उसके उचित उपयोगको भी तब यह बात स्वीकार किये बिना मैं नहीं रह सकता कि मेरी ये कविताएँ मेरे लिए केवल एक पलायन ही नहीं वरन् एक स्वप्नलोक भी थीं जहाँ मैं अपनी समस्याओंसे भागकर केवल शरण ही नहीं लेता वरन् साथ ही असामाजिक नकाले व्यक्तित्व-द्वारा उत्पन्न अपनी असम्भव इच्छाओंकी पूर्ति भी देखी। इसीलिए मुझे अपनी कवितापर इतनी मोह-ममता रही और इसीलिए मैं उनको अपनी सम्पत्ति मानता रहा।

आजकी सामाजिक व्यवस्था और उसकी आधारगत आर्थिक व्यवस्था एक मध्यवर्गके नवयुवकको अप्राकृतिक रूपसे महत्वाकांक्षी और स्वप्नाभिलाषी बना देती है क्योंकि एक ओर तो वह अपने स्कूल और कालेजमें पढ़ाई जानेवाली पाठ्य-पुस्तकोंसे अपने-आपको महान व्यक्ति (इण्डिविजुअल) बनाने की सोचता है और दूसरी ओर ऊपरके वर्गकी ऐश्वर्यशालीनता उसे सहज ही आकर्षित करती है। और जो अतिभावुक होता है वह अभिलाषाओंका शिकार होकर सौन्दर्यका भूखा कल्पनाके स्वप्न छाननेवाला रंगीन कवि हुए बिना नहीं रह सकता।

अपने अनुभवसे मैं इसीलिए यह बात ज़ोर देकर कहना चाहता हूँ कि कम-से-कम मुझे मेरी कविताने भावोंका उत्थान (सब्लिमेशन) नहीं दिया न उसने मेरे हृदयका परिष्कार किया। दूषित समाजने मुझे जो असामाजिक कमज़ोरियाँ और गलित स्वार्थ दानमें दिये मेरी कविताने उन्हींकी पीठ ठोंकी। समाजको सच्चा मानकर उसमें कम करना क्योंकि वास्तविक क्षमता और सामर्थ्यकी अपेक्षा रखता है इसीलिए मैंने कविताएं लिखकर मानो स्वप्नमें अपनी अभिलाषाएं पूरी कीं और संसारको मिथ्या सिद्ध किया। कर्मसे पलायन ही मेरी कविताओंका स्पन्दन रहा। व्यक्तित्वके वे सारे डंक जो दूसरोंको काटने दौड़ते हैं, समाजमें रहने-सहनेसे टूट जाते हैं लेकिन इस पलायनका फल यह हुआ कि मैंने उन्हीं विषको अमृत समझा। आजका हिन्दी कवि इतना दम्भी अकर्मण्य और

असामाजिक व्यक्ति क्या होता है यह मुझे अच्छी तरह मालूम हो गया है।

और इसीलिए यदि कविताका उद्देश्य व्यक्तिकी इकाई और समाजकी व्यवस्थाके बीचके सम्बन्धको स्वर देना और उसको शुभ बनानेमें सहायता करना है तो हिन्दीके कविको समाजसे नाराज होकर भागनेकी बजाय समाजकी उस शोषण-सत्तासे लड़ना होगा जिसने उसको कोरा स्वप्नाभिलाषी और कल्पना विलासी बना डाला है और जिसने उसको अपनी कविताको ही एकमात्र सम्पत्ति माननेके भ्रममें डाला है। इस संघर्षके पथपरके अपने अनुभवोंको यदि वह पद्य-बद्ध करेगा तो पायगा कि उसकी कविता केवल मर्म-स्पर्शी और सशक्त ही नहीं वरन साथ ही उसको अधिक ज्ञानी और सामाजिक बनानेवाली भी है। तब कविता उसके हाथमें एक मूल्यवान अस्त्रकी भांति होगी आजकी तरह अपार्थिव अस्तित्वहीन फूलोंकी सेज नहीं।

—भारतभूषण अग्रवाल

अपने कवि से

१

कितनी संकुचित जीण, वृद्धा हो गयी आज कवि की भाषा !
कितने प्रत्यावर्तन जीवन में चंचल लहरों के समान
आये बह गये काल बुद्बुद सा उठा मिटा पर परम्परा—
अभिभुवन अभी परिवर्तित हुई न परिभाषा
रूप की ध्वनि की। नव विचार, नव ज्ञान रीति,
नित नित नवीन जीवन के स्वर पर प्राचीना
अब भी है वाणी की वीणा। कुछ अनुभव करते प्राण
किंतु अभिव्यक्ति अन्य ही कुछ देती है उसे गिरा।
इस भांति आज कवि के अतिशय उत्कट विचार, सुख दुख प्रतीति
रह जाते हैं कल्पना मात्र। सब बन्धन से दुष्कर बन्धन
है शब्दों का जो नहीं निकट आने देता कवि एवं उसकी आत्मपूर्ति
को जग के भौतिक सत्यों के, छाया के सदृश अर्थहीना
करता है उसकी वाणी को। कैसी विडम्बना! स्थिर साधन
यद्यपि चिर गतिमय साध्य! देवता बदल गये बदली न मूर्ति!

२

कवि! तोड़ो अपना शब्द जाल जो आज खोखला शून्य हुआ
यह है अपने पुरखों की वैभव भोगमयी कल्पित वाणी,
मन्मत्त विलासिनि! त्याग इसे! बनना है तुझको तो अगुआ

युग का, युग की भूखो, कमजोर हड्डियों का, जिनका पानी
है उठा खौल, घिर रहा विश्व पर घटाटोप बादल बन कर।
बज नहीं सकेगा तेरी इस मधु की वंशी पर इतना स्वर
गर्जना भरा। सड़ गयी आज यह गिरा अबल, घिस गयी व्यक्ति
छवि कनक प्रवालों के जालों में खो बैठी यह आत्म शक्ति
युग के मानव के सुख-दुख, आशा प्रत्याशा का प्रतिनिधित्व
इसके कण्ठ से नहीं सम्भव। यह सदा स्वर्ग-वासिनी रहो
अप्सरा बनी। जाने दे इसको स्वर्ग, खोज ले आज मही
अपनी मिट्टी के पुतलों के शब्दों में ही अपना कवित्व,
हमको न जरूरत आज देव वाणी की, हम खुद ढालेंगे
जीवन की भट्ठी में भाषा, जो चाहा रूप बना लेंगे।

३

इस छायामय भाषा ने कर डाला असत्य, अपदार्थ, हीन,
तेरे लघु जीवन का था जो एकान्त सत्य—तेरे विचार
में केवल जो था सार—वही तेरा प्रेयसि के लिए प्यार।
तू भूल गया, अजान! रूप है मांस, रक्त, मस्तिकाधीन
शब्दाडम्बर चक्र में भ्रान्त। अप्सरा बना डाली तूने
षोडश-वर्षीया रूपवती वह पढ़ी लिखी लड़की! पागल!
तू सुनता रहा मधुर नूपुर ध्वनि यद्यपि बजती थी चप्पल।
तू सोचा किया भाव-वाचक है तत्त्व—शून्य, जिसको छूने
की भी चेष्टा है व्यर्थ! दूर वो भाग गया तू जीवन से
तू सदा सोचता रहा 'मुक्त हो जाऊं जग के बन्धन से
उड़ कर दिगन्त के पार'। सृष्टि का पाया तूने क्षण भंगुर
निज दिव्य-दृष्टि से। रे! तेरी यह भाषा तो है मात्र-मुकुर,
उस दर्शन का जिसने देखा बस आसमान धोया-नीला,
नश्वरता से डर कर जिसने देखी न प्रकृति चिर गतिशीला।

जीवन धारा

सघन बर्फ की कडी पर्त सी
एक-एक कर अमित रूढ़िया
सदिया से जमती जाती हैं
तह पर तह
मानव-जीवन पर ।
तह पर तह—
ये आज ठोस दीवार बनी
हैं रोक रही जीवन की गति
मन की उन्नति ।
अवरुद्ध आज जीवन धारा—
युग-युग स प्रचलित भय निर्मित
इन अमित रूढ़िया की कारा ने
बाध लिया मानव का मन,
जग का जीवन ।
आगे बढने म विफल व्यथ
असमथ
आज जग जीवन की सरिता का जल
हो कर बेकल
है फोड फाड निकला बाहर
दोना कूला के इधर उधर
रसमय वसुधा के अचल को
कर के दलदल ।
अवरुद्ध आज जीवन प्रवाह ।

जडता की जंजीरों में जकड़ा भीत हृदय
हिम शीत मृत्यु के क्षुण्ण-स्पर्श से
आज बना निर्जीव,
न उसमें शक्ति कि कर भी ले वह कुछ चीत्कार-आह !
सब ओर आज गतिहीन शान्ति, निष्प्राण मौन,
अस्वस्थ धरा, अवरुद्ध वायु, निस्तेज गगन
गँदला, अशुद्ध जग का जीवन ।
जग की रग रग में जमा हुआ हेमन्त शीत,
पतझार पीत !
पर भय क्या है !—अब देर नहीं
हम अग्नि शिखा प्रज्वलित करेंगे
जिसके सम्मुख एक बार ही
गल गल पिघल जायगे सारे हिम व प्रस्तर ।
एक बार फिर
जीवन पायगा अपनी उन्मुक्त धार, निर्द्वन्द्व प्रगति
टूटेंगे गति के पथ में आये रूढ़िग्रस्त मानव के मन के भाव-बन्ध
फिर से समस्त जग में छायगा नव प्रकाश
नव-नवोल्लास, नव गीत छन्द ।
फिर एक बार,
हिम की कारा को तोड़ फोड़ ।
अक्षय, प्रशस्त, जीवन धारा
वसुधा की चौड़ी छाती पर
स्वच्छन्द,
अमन्द,
वह पायेगी मग सरसाती
कल-कल गाती ।
फिर भय क्या है !—अब देर नहीं
हम लाते हैं वह वह्नि-तेज

जिसके स्फुलिंग की ज्योति बिन्दु से
मिट जायेगा हेमन्त शीत
मिट जायेगी इस कडवी जडता की सडाध
हम देख रहे टकटकी बाँध—
उग रहा पूर्व में नवालोक अभिनव वसन्त ।
अब देर नहीं—
विकसित होकर जग का शतदल
खोलेगा अपनी मुँदी आँख ।
जागृति की किरणों से ज्योतित
होगा अशेष जग का प्रांगण,
सौरभ से पूरित दिग् दिगन्त ।



है श्रान्त तन, है क्लान्त मन, मैं आज हूँ निष्प्राण ।
        आगे बिछी है राह
जानता हूँ यही है वह पथ कि जिस पर मिल सकेगी मुक्ति
        मेरी और सब की मुक्ति,
जानता हूँ यही है वह पथ कि जिस तक पहुँचने की
        थी हृदय म चाह
        जो म था अतुल उत्साह ।
फडा करके जी, कमर कस, चल पडा था उस दिवस अम्लान
वंचितो के स्वत्व-समर म चढाने एक निज का दान
सोचता था अब हुआ जीवन सफल, अब मिट गया अँधियार
        टूटे अब हमारे बन्ध
        तन के और मन के बन्ध
सोचता था क्षुद्र मन के स्वार्थ पर ही था विगत आधार
        मैं था मूढ, मैं था अन्ध ।
या तोड नाते, छोड चिन्ता, एक निश्चय की सँभाले टेक
मैं चला बनने अनेको सैनिको म एक ।

तब नही मैं जान पाया था—कठिन है राह यह कितनी,
तब नही मैं जान पाया था—क्षणिक है स्फूर्ति यह इतनी ।
        आज है अचरज यही अत्यन्त
        उस महा आरम्भ का हा ! क्षुद्र ऐसा अन्त ।
        दूर है, मंजिल अभी मेरी बडी ही दूर
        किन्तु मैं तो बीच म ही आज थक कर चूर

गिर पड़ा हूँ राह पर।
जा रहे हैं साथ के वर वीर क्रम क्रमर
किन्तु मैं अपने निजी कुछ मोह में, कुछ मूग्ध आशा में
इस अपूर्ण अशक्त मन की स्वाभिलाषा में
अटक करके रह गया हूँ स्वयं अपने जाल में
वगवाली हृदय के कटु व्यूह अति विकराल में
आज पहली बार मुझको मिल सका है ज्ञान मन की परिधि का
असहाय सीमाबद्ध अपना शक्ति का।
शक्ति जो या चाहती है फैल जाय विश्व भर की सवनाशा
अपहरण की नाव पर
किन्तु सीमा में बधी, आकुल घिरी पय-हारिणी वन कर
फूट पाती है नहीं
ढूंढ पाती है नहीं निज राह।
मानता हूँ—सभी सीमाएँ सदा मन जात
किन्तु मन क्या मुक्त है, उस पर नहीं क्या अपर बन्धन ?
जन्म जिस परिवार में मैंने लिया है
जिस तरह की परिस्थितियों से यहाँ तक आ सकी है
ज़िन्दगी की सडक मेरी
घूमती फिरती, अनेकों मोड पर से काटती चक्कर
उन
परिस्थितियों का पिता है वर्ग और समाज पूँजी का
और, मेरे विकल मन की सभी सीमाएं
वहीं से निःसृत हुई हैं।



मसूरीके प्रति

१

माना असत्य, कल्पना मात्र परलोक, किन्तु री मसूरी !
तू सत्य स्वर्ग इस वसुधा पर। तेरे अंचल की छांह तले
पलते हैं देव-तुल्य नर-गण। विमला की पुरी अये विमले !
कब लांघ सका यह पापी, काला नर-समाज तेरी दूरी ?
तेरा पथ है अत्यन्त अगम। विरले ही जन जा पाते हैं
स्वर्ण की सीढ़ियों पर चढ़कर। वह देख उधर, वे आते हैं
दो चार कुली—पृथ्वी की हत भागिनि निरीह संतान—
अबल कन्धों पर भार वहन करते। ये ही हैं वे सोपान
सचर जिन पर पग धर, वैभव के मद में झूम, चढ़े
तुझ तक आया करते हैं तेरे वरद पुत्र, तव वन्दनार्थ
तल प्रान्तों की उत्तप्त यातना से बचकर। कैसे वे चांदी
के टुकड़े !
जो दुख को अपने परस मात्र से सुख में करते परिवर्तित,
जिनका अभाव इन मर्त्य-लोक के वासी दीनों को दिन-रात
रखता है रौरव की लू में, जीवन भर ज्वाला में पीड़ित।

२

मैंने अपनी आंखों देखे हैं वे बादल जो चरणों में
आनत, प्रतिपल शीतल करते रहते हैं तेरे प्रांगण को
जब झुलस रहा होता है निर्धन जग प्रलयंकर लपटों में,
जो तल के नद-सागर के जल के कण-कण का शोषण कर के
तुझ पटरानी का करते हैं अभिषेक। रम्य रस-वसना उस
रमणी-गण को

मैंने देखा है, जो गाती रहती हैं कल-कल निर्झर के
स्वर में अपना स्वर डुबा, हुल्लास विलासों में भर भर मस्ता,
जब चीखा करती है क्षुधार्त नीचे मैदानों की बस्ती।
हां, मैंने अपनी आंखों देखा है विभेद यह, यह विरोध
जो साधारण घटना है अपनी पूंजीवाद प्रणाली को,
जो है तेरा आधार-स्तम्भ, जिसका विनाश दो दिन ही की
है बात यातना ने जिसको विश्व को दिया है नया बोध।
आज के मदिर सुख में, रंगीनी में भूली ओ री अलका!
कुछ तुझ ध्यान भी है कल का, शोषित दल के उठने बल का?



अहिंसा

खाना खा कर कमरे में बिस्तर पर लेटा
सोच रहा था मैं मन ही मन 'हिटलर बेटा
बड़ा मूर्ख है, जो लड़ता है तुच्छ-क्षुद्र मिट्टी के कारण
क्षणभंगुर ही तो है रे! यह सब वैभव धन।
अन्त लगेगा हाथ न कुछ, दो दिन का मेला।
लिखूँ एक खत, हो जा गान्धीजी का चेला
वे तुझको बतलायेंगे आत्मा की सत्ता
होगी प्रकट अहिंसा की तब पूर्ण महत्ता।
कुछ भी तो है नहीं धरा दुनिया के अन्दर।'

+ + +

छत पर से पत्नी चिल्लायी "दौड़ो, बन्दर!"



फूटा प्रभात

पूटा प्रभात, फूटा विहान,
वह चले रश्मि के प्राण विहग के गान, मधुर निर्झर के स्वर
झर झर झर झर।
प्राची का यह अरुणाभ क्षितिज
मानो अम्बर की सरसी में
फूला कोई रक्तिम गुलाब रक्तिम सरसिज।
धीरे धीरे
लो फैल चली आलोक रेख
घुल गया तिमिर, बह गयी निशा,
चहुँ ओर देख
धुल रही विभा विमलाभ कान्ति।
अब दिशा दिशा
सस्मित
विस्मित
खुल गये द्वार हँस रही उषा।

खुल गये द्वार दृग, खुल कण्ठ,
खुल गये मुकुल।
शतदल के शीतल कोषों से निकला मधुकर गुंजार लिये
खुल गये बंध छवि के बंधन।

जागो जगती के सुप्त बाल!
पलकों की पंखुरियाँ खोलो, खोलो मधुकर के अलस बंध

दृग भर
समेट तो लो यह श्री, यह कान्ति
बही आती दिगन्त से यह छवि की सरिता अमन्द
झर झर, झर झर।

फूटा प्रभात, फूटा विहान,
छूटे दिनकर के शर ज्यों छवि के वह्नि-बाण
(केशर फूलों के प्रखर बाण)
आलोकित जिनसे धरा
प्रस्फुटित पुष्पों के प्रज्वलित दीप,
लौ भरे सीप।

फूटी किरणें ज्यों वह्नि बाण, ज्यों ज्योति शल्य,
तरु-वन में जिनसे लगी आग।
लहरों के गोल गाल, चमकते ज्यों प्रवाल,
अनुराग-लाल।



प्रत्यावर्त्तन

सचमुच मेरे मन म है यह विस्मय अपार :
किस भांति लौट कर आ जाती हो बार बार
तुम मेरे जीवन म, ओ गीतो की प्रतिमे !
म खो खो कर भी पा जाता हू प्रति दिशि म
तेरे चरणो की चपल चाप । जब-जब कठोर
होने का निश्चय कर मैं बरबस मुसका कर
तुमसे कहता हूँ   आज विदा आखिरी, प्राण !
तुम व्यथाशू य अपने नयनो की सजल कोर
स जैसे लिख देती हो अपना प्यार अमर
तुम जैसे कह देती हो   ओ ! मेर अजान !!
यह सब किससे, जिसका है तेरे सपनो पर
चिर आधिपत्य ? मै आज समझ पाया हूँ यह
जिस सहज भाव से अनायास ही तुम प्रत्यह
मुझको करने देती हो अपना मुक्तियास
उसम रहता है निहित तुम्हारा अविश्वास
मेरी क्षमता पर, मेरे प्राणा के बल पर ।

है आज भरा मरे मन म सचमुच विस्मय ।
क्या तेरा सम्मोहन है इतना हो अटूट ?
क्या मेर जो म है इतना ही प्रबल प्रणय ?
क्या सचमुच ही तेरी आभा के क्षुद्र बिन्दु
म व दी है मधु का समुद्र, स्नेह का सि धु
जो मेरे अनजाने म ही प्राण म फूट
लाता है मुझको बहा-बहा तेरे तट तक ?

मैं विस्मित हूँ आकर्षण का वह लघु अंकुर
किस भांति अचानक आज बन गया अमरलता
आच्छादित कर के प्राणों को ? बतलाओ मेरी निबलता।
किस पावक से जल उठते हैं वे आर्द्र-पलक
जब डूबा रहता है सुधि तम मे अन्त पुर ?
किस दैवयोग के मधु विधान सी तुम पथ मे
चौंका देती हो मुझको फिर फिर, दृग भर भर ?
री ! बोलो किस स्वर्गीय गान के मधुमय स्वर
ने गूँथ लिया है अनायास लय बना हमे ?



मिलन

छलक कर आयी न पलकों पर विगत पहचान,
मुस्करा पाया न ओठों पर प्रणय का गान ,
ज्यों जुड़ी आँख, मुड़ी तुम, चल पड़ा मैं मूक—
इस मिलन से और भी पीड़ित हुए ये प्राण ।



विदा वेला

पाया सनेह था नहीं न पर तुम जभी विदा रीति का ज्ञान
पगली ! बिछोह की बेला म बिन माँगे ही प्रीति का दान
दो मुस । कहा इस अन्तिम पल म एक बार 'प्रियतम' धीमे
पूछो कब लौटोगे वसन्त म ? वषा म ? शारद श्री म ?
शीत की रातो म ? सरल ! मत रह जाओ नतमुख उदास
लाज म दबी । कल जब यह पल होगा अतीत, तब अनायास
मुखरित होगी यह मौखता बन व्यथा, वियोगी प्राणो म
तब तुम सोचोगी बार बार 'क्यो आँसू म, मुस्कानो म
दुख-सुख की उस अद्वितीय घडी को किया न मैंने अमर ?'

प्रिय !

यह कमक तुम्हे कल्पायगी क्या मैंन प्रिय को अश्रुपिये
नयनो स नहला दिया न, सचित किया न क्यों कुछ
आश्वासन

इस विरह-काल के लिए हाय ! भर आलिगन पाकर चुम्बन !'



चलते चलते

मैं चाह रहा हूँ गाऊ केवल एक गान आखिरी समय
पर जो म गीतो की भीड लगी
मैं चाह रहा हूँ, बस, बुझ जायँ यही प्राण रुक जाय हृदय
पर सासो म तेरी प्रीति जगी
इसलिए मौन ही जाता हू स्वीकार करो यह बिदा
आज आखिरी बार ,
मत समझो मेरी नीरवता को व्यथा जात
या मेरा निज पर अनाचार ।
म आज बिछुड कर भी सचमुच ही सुखी हुआ मेरी रानी !
इतना विश्वास करो मुझ पर
मैं सुखी हू कि तुमने अपनी नारी-जन-सुलभ चातुरी से
बिखरा दी मेरी नादानी
पानी पानी कर के सत्वर
मैं सुखी हू कि इस बिदा समय भी नही नयन गीले तेरे,
मैं सुखी हूँ कि तुमने न बटाये कभी अलभ्य स्वप्न मेरे,
मैं सुखी हू कि कर सकी मुझे तुम निर्वासित या अनायास
मैं सुखी हू कि मेरा प्रमाद बन सका नही तेरा विलास !
मैं सुखी हू कि—पर रहने दो तुम बस इतना ही जानो
मैं हूँ आज सुखी,
अंतिम बिछोह दो बिदा आज आखिरी बार ओ इन्दुमुखी !



प्रत्यूष वेला

प्रात की प्रत्यूष वेला—
रात के घनघोर, काले क्षणों के उपरान्त की यह शान्त वेला
अभी मीठी नींद की सुधि शेष है मेरे दृगों में
और सपनों की मधुरिमा से रँगा है फूल-सा मन
सहज, हलका।
कवि प्रिया का सलज अंचल ज्यों बिछा है प्राण पर अब भी
दूर जिसके देश में अटके हुए हैं आज भी जो भाव मेरे
तिमिर के मोहन-अमयम में लगाते हैं विकल फेरे
जिस प्रतनु के अल्क के चहुँ ओर
जिस सलोनी कामिनी के पलक में बस घुला देते हैं विमुध तन्द्रा
भुला देते हैं पिया की पिया से गुथ, एक होने की
पिया के साथ सोने की
सुनहली चाह।
वही कविता कल्पना चिर साथ जीवन की
वही अंचल परस जिसका वरद पारस-सा
और ये ही मधु भरे लघु भाव
जो रहे हैं ज्यों अभी मेरी अतार्किक दृष्टि में।
सृष्टि में
इसी से तो अभी कोलाहल नहीं रवमान
अभी जग कर्म का आह्वान
अरुण की नवजात किरणें दे न पायी हो जगत् को।
क्षणिक, मीठी अनूठी यह सुखद वेला
रात के उन दीर्घ, कम्पित, भय भरे रूखे पलों से
है नितान्त विभिन्न।

जागते रहो !

डूबता दिन भीगती सी शाम
बन्द कर दो काम
लो विश्राम ।

यह तिमिर की शाल
ओढ लो वसुधे ! न सिकुड़े गात से यह लाल
जग का बाल ।

वलय की खनकार
दीप बालो री सुहागिनि ! जग उठे गृह द्वार
बन्दनवार ।

किन्तु साथी ! देख
हम न सोयेंगे हमारा कार्य है अवशिष्ट
अपनी प्रगति का अब भी अधूरा लेख ।
जागरण चिर जागरण ही है हमारा इष्ट !

लो क्षितिज के पास—
वह उठा तारा, अरे वह लाल तारा नयन का तारा हमारा,
सर्वहारा का सहारा
विजय का विश्वास ।



पथ हीन

कौन-सा पथ है ?
मार्ग में आकुल अधीरातुर बटोही यों पुकारा
'कौन सा पथ है ?

'महाजन जिस ओर जायें'—शास्त्र हुँकारा
'अन्तरात्मा ले चले जिस ओर'—बोला न्याय पण्डित
'साथ आओ सब-साधारण जनों के'—क्रान्ति-वाणी।

पर महाजन मार्ग-गमनोचित न सम्बल है, न रथ है,
अन्तरात्मा अनिश्चय-संशय-ग्रसित,
क्रान्ति गति-अनुसरण-योग्या है न पद-सामर्थ्य।

कौन सा पथ है ?
मार्ग में आकुल अधीरातुर बटोही यों पुकारा
'कौन-सा पथ है ?'

भारतभूषण अग्रवाल

पर नहा कविता अस्त्र नही ह — न मूयवान न अमूल्य। कविताको अस्त्र मानकर चला हा था (जागन रहा) कि म स्वय अस्त्र बन गया और मरा कविता एसी यत्र लिपि कि उसमें अपन मनका स्पन्न सुनाई हा नहा पन्ता था। आज यह बात कहनम बनी हल्का और आसान लगती ह पर जिन प्रतिश्रुतियाकी मायामें पन्कर म इस अगतिका (या दुर्गतिका) प्राप्त हुआ था व इतनी विकट थी और एक बार उस डगरपर दा कदम चल पडनके बा पाछ नौन्नम यथताका एसा विचित्र भाव जगा था कि एक प्रकारसे मरी कविताका स्रोत ही सूख चला। फिर साहस कर किसी तरह उस जुलूसम अपनको अलग किया रास्तका एक गलियापर बठकर दायका सर्वेक्षण किया (मुक्तिमार्ग) और अपनी एक निराला पगडण्डी निकालकर का यके प्रशस्त पथपर आनकी चष्टा करता रहा (आ अप्रस्तुत मन !) अब लगता सा ह कि वह प्रशस्त पथ दिखाइ पडन लग गया ह और अगर हिम्मतन साथ दिया तो एक दिन उसपर पहुच जाऊगा पर भविष्य-कथनम सकोच हाना स्वाभाविक ह।

नहा जानता मरा यह अनभव नितान्त मरा हा ह अथवा अय सम वयस्क कवियाका भा (सप्तक क अथवा सप्तक से भिन्न) पर मम इसा बातपर कम सन्ताप और हप नहा ह कि म इतना भटककर भा रास्तपर आ लगा हू और चाह इस प्रक्रियाम हा अधड हा गया हू अभी मनक उत्साहम काई कमी नही आया ह। कम अगर फल न द ता साधा रण दशकका निराश होना स्वाभाविक ह पर अपन-आपका सूखन और टूट हा जानका नियतिस बचानम कवका कितना सतक यत्न करना पडा ह यह कमस कम वनस्पति शास्त्रीका ता पहचानना ही चाहिए।

२

इस बाच कवि-कम निरन्तर कठिन हाता चला गया ह। तार सप्तक क प्रथम प्रकाशनक समय विश्व अपन इतिहासक सबस अधिक भीषण युद्धमें ग्रस्त था और दश अपनी मक्तिक द्वारपर थरथरा रहा था। जस-जस युद्ध समाप्त हुआ और देशका मक्ति मिला पर जावन एव

जगतकी जटिलता निरन्तर बढ़ती ही चली गयी है। आधुनिक कविको यदि एक ओर विश्व पहली बार एक होता दीखता है तो दूसरी ओर यान्त्रिक पद्धतिकी जकड़में व्यक्ति अकेला पड़ता जा रहा है। भारतीय कविके लिए एक अतिरिक्त कठिनाई यह है कि जनतन्त्र आनेपर ही मानव विभाजक खाइयाँ भी दिखाई पड़ने लग गया है जो नगर और ग्रामके बीच प्राचीन और नवीनके बीच और देशी और विदेशीके बीच खुली हुई हैं — बल्कि कुछ खाइयाँ तो निरन्तर बढ़ती चली जा रही हैं। इन सबपर अपनी सीमित मध्यवर्गीय अनुभूतिके बलपर वह संवेदनाका सेतु कैसे बाँधे? और जबतक यह सेतु न बँधे तबतक उसका कवि-कर्म कैसे चरितार्थ हो?

३

और मानो यह कठिनाई ही कुछ कम हो कि आजके कविके सामने एक और भयंकर समस्या खड़ी हो गयी है उसका कवि-कर्म अतिरिक्त कर्म भी हो सकता है, एक मात्र कर्म नहीं। जो विद्वान नये कविसे व्यापक दृष्टि, गहन अनुभूति और समर्थ अभिव्यक्तिकी माँग करते नहीं थकते वे इस बातपर एक क्षण भी विचार नहीं करते कि आजकी जीवन-पद्धति कविको अपनी कलाके मांजने-सँवारने और पाने-परखनेका कोई अवसर नहीं देती। एक तो आजके जीवनकी गति यों ही इतनी तीव्र हो गयी है कि उसके साथ कदम मिलाना 'तरवारकी धार पै धावनो' हो गया है — नयी परिस्थितियाँ सबको सूत्र मिलानेसे पहले ही परिस्थिति बदल जाती है — जिसपर दैनिक जीवनकी माँग कवि और 'कवि-कर्म' नहीं मानती और कविता अधिकतर जीवन निर्वाहके कामोंमें नहीं कविताका सवारीके चरणोंमें निवेदित हो जाता है। कम तो आजका साहित्यकार मात्र ही अपनी क्षमताका दुरुपयोग करनेको बाध्य है पर कवि तो सबसे अधिक क्योंकि इस सर्वाधिक प्राचीन और भव्य साहित्य विधाका व्यावसायिक मूल्य सबसे कम है। आज कविताको गीत पर 'कुँक' कर ही दिया जा सकता है पर 'घर फूँकना' कबीरके समयमें भले ही व्यावहारिक विकल्प रहा हो आज तो कदापि नहीं है।

४

मैं कभी निर्देश करता गया पर पाठ-सुनकर आता है कि कवि-कर्मका यह दशा केवल हिन्दीमें ही नहीं बल्कि भारतमें ही नहीं सब देशोंमें सबत एक-सी है। जनतन्त्रने उसको शिक्षित तो किया है पर एक आशा

ही तक। फ-त आजका जनसाधारण मनोरंजनके लिए तो कविताकी माँग करता है पर कवितामें मनोरंजन नहीं करता। और इस प्रकार अनुपयोगी कलाकी साधनामें रत कविको जीवन-यापनके लिए तरह-तरहकी कलाबाजियाँ करनी पड़ती हैं जिसके कारण उसकी अनुभूति सीमित और उसका व्यक्तित्व विभक्त हो जाता है। इस सीमा और विभक्तिको नया कवि भरसक वाणी देता है (मैं तो आजकी कविताको विभक्ति-युगकी कविता कहता हूँ भक्ति-युगके ढंगपर) पर काव्य उसका भी समग्र और सम्पूर्ण ही है। जो कविसे महाकाव्यकी अपेक्षा करते हैं वे उसे महाकाव्य की परिस्थितियाँ पानेमें सहयोग क्यों नहीं देते — यह प्रश्न मेरे मनमें बराबर उठता रहता है।

५

अंतमें एक बात भाषाके सम्बन्धमें। 'तार सप्तक' के छायावादी पूर्वजोंको एक ऐतिहासिक सुविधा मिली थी कि जिस भाषामें वे अपनी अभिव्यक्ति कर रहे थे उस भाषाका वे साथ-ही-साथ विकास और रूपायन भी कर रहे थे। उनके पहले तो कविता अवधी ब्रज भाषा आदि बोलियोंमें लिखी जाती थी। यही कारण है कि उनके लिए काव्य भाषाका निर्माण एक कठिनाई न होकर अनछुए पथपर चलनेका गौरवोल्लास बन गया था। यही नहीं जनतान्त्रिक सिद्धान्त उनके आदर्श तो थे व्यवहार नहीं बन पाये और इसी कारण जहाँ संस्कृतका अनंत भाण्डार उन्हें नवीन अर्थ प्राप्तिके लिए उपलब्ध था वहीं उसे लोक-मानस तक लानेकी उन्हें कोई बाध्यता न थी (छायावादी कवितामें लोकोक्तियाँ और मुहावरे मरुमें मरुद्यानकी ही भाँति मिलते हैं) पर नये कविको यह सुविधा प्राप्त नहीं है। उसे प्रचलित भाषामें ही नया अर्थ भरना है नयी अभिव्यक्ति का माध्यम पाना है। यही नहीं उसके आस-पास एक विदेशी भाषाका ऐसा धड़ल्लेसे व्यवहार होता है कि सही भावाभिव्यक्तिके लिए उसके शब्दोंका सम्पूर्ण बहिष्कार करनेकी स्थितिमें वह नहीं है। परिशुद्धतावादी उसे चाहे कितना ही क्यों न कोसें, दनन्दिन बोल-चालमें प्रचलित इन अंगरेजी शब्दोंके स्थानपर हिन्दीके शब्द बठाना कृत्रिम ही कहा जायेगा और ऐसे शब्द भाव की व्यंजना नहीं कर सकेंगे। यथार्थकी भूमिपर जो काव्य रचा है उसका माध्यम यथार्थ भाषा ही हो सकती है — शब्द-कोशकी भाषा नहीं।

— भारतभूषण अग्रवाल

आनेवालों से एक सवाल

तुम, जो आज से पूरे सौ वर्ष बाद
मेरी कविताएँ पढ़ोगे
तुम, मेरी धरती की नयी पौध के फूल
तुम, जिन के लिए मेरा तन मन खाद बनेगा
तुम, जब मेरी इन रचनाओं को पढ़ोगे
तो तुम्हें कैसा लगेगा
इसका मेरे मन में बड़ा कौतूहल है।

बचपन में तुम्हें हिटलर और गांधी की कहानियाँ
सुनायी जायेंगी
उस एक व्यक्ति की
जिसने अपने देशवासियों को मोह की नींद सुला कर
सारे संसार में आग लगा दी,
और जब लपटें उसके पास पहुँची
तो जिसने डर कर आत्महत्या कर ली
ताकि उनका मोह न टूटे
और फिर उस व्यक्ति की
जिसने अपने देशवासियों को ज्ञान से जगा कर
सारे संसार को शान्ति का रास्ता बताया,
और जब संसार उसके चरणों पर झुक रहा था
तब जिसके देशवासी ने ही उसके प्राण ले लिये
कि कहीं सत्य की प्रतिष्ठा न हो जाय।
तुम्हें स्कूल में पढ़ाया जायगा
कि सौ वर्ष पहले

इनसानो ताक्तो के दो बडे राज्य थे
जो दोनो शान्ति चाहते थे
और इसीलिए दोनो दिन रात युद्ध की तैयारी म लगे
रहन थे,
जो दोना ससार को सुखी देखना चाहते थे
इसीलिए सारे संसार पर कब्जा करने को सोचते थे,
और यह भी पढाया जायेगा
कि एक और राज्य था
जो ससार भर मे शान्ति का मन्त्र फूंकता रहा
पर जिसे अपन ही घर म
भाई भाई के बीच दीवार खडी करनी पडी
जो हर पराधीन देश की मुक्ति मे लगा रहता था
पर जिसके अपने ही अग पराये बन्धन मे जकडे रहे।
तुम्हे विश्वविद्यालयो मे बताया जायगा
कि इनसान का डर दूर करने के लिए
सौ साल पहल वैज्ञानिको ने कुछ ऐसे आविष्कार किये
जिनसे इनसान का डर और भी बढ गया,
और यह भी
कि उसने चाद सितारो मे भी पहुंचने के सपने देखे
जब कि उसके सारे सपने चकनाचूर हो गये थे।
और तभी किसी दिन
किसी प्राचीन काव्य सग्रह मे
तुम मेरी कविताए पढोगे,
और उन्ह पढ कर तुम्ह कैसा लगेगा
यह जानने का मेरे मन म बडा कौतूहल है।

तुम जो आज से सौ साल बाद मेरी कविताएँ पढोगे
तुम क्या यह न जान सकोगे

कि सौ साल पहले
जिन्होंने तन्मयता से विभोर होकर
आत्मा के मुक्त आरोहण के
या समवेत जीवन की जय के गीत गाये
वे आखें बन्द किये सपनों म डूबे थे ,
और मैं जिसका स्वर सदा दद से गीला रहा,
जिसके भराये गले से कुछ चीखें ही निकल सकी,
मैं सारा बल लगा कर
आँखें खोले
यथाय को देख रहा था।

मैं, और मेरा पिट्ठू

देह स अकेला हो कर भी
म दो हू
मेर पेट म पिटठू है।

जब म दफ्तर म
साहब की घण्टी पर उठता वठता हू
मरा पिटठू
नदी किनारे वन्शी बजाता रहता ह।
जब मेरी नोटिंग कट कुट कर रि टाइप होती है
तब साप्ताहिक के मुख पष्ठ पर
मेरे पिटठू की तसवीर छपती है।
शाम को जब म
बस के फुट बोड पर टगा टँगा घर आता हू
तब मरा पिटठ
चादनी की बाहो म बाँह डाल
मुगल गाडन म टहलता रहता है।
और जब मैं
बच्चे की दवा के लिए
आउटडोर वाड की क्यू म खडा रहता हू
तब मेरा पिटठ
कवि सम्मेलन क मच पर पुष्प मालाए पहनता होता है।
इन सरगर्मिया स तग आ कर
मैं अपन पिटठू स कहता हू

भई, यह ठीक नहीं
एक म्यान में दो तलवारें नहीं रहतीं,
तो मेरा पिट्ठू हँस कर कहता है
पर एक जेब में दो कलमें तो सभी रखते हैं ।

तब मैं झल्ला कर आस्तीनें चढ़ा कर
अपने पिट्ठू को ललकारता हूँ –
तो फिर जा, भाग जा, मेरा पिण्ड छोड़
मात्र कलम बन कर रह ।
और यह सुन कर वह चुपके से
मेरे सामने गीता की कापी रख देता है ।

और जब मैं
हिम्मत बाँध कर
आँखें मीच कर, मुट्ठियाँ भींच कर
तय करता हूँ कि अपनी देह उसीको दे दूँगा
तब मेरा पिट्ठू
मुँह खँखार कर
'एफिशिएन्सी बार' की याद दिला देता है ।

एक दीखनेवाली मेरी इस देह में
दो 'मैं' हैं ।
एक मैं
और एक मेरा पिट्ठू ।
मैं तो, खैर, मामूली-सा क्लर्क हूँ
पर, मेरा पिट्ठू ?
वह जीनियस है ।

भारतभूषण अग्रवाल

दूँगा मैं

दूगा मैं।
नही नही हिचकूँगा
कि मेरी अकिंचनता अनन्य है
कि मैं ऐसा हूँ कि मानो हूँ ही नही,
हा, नही हिचकूगा
कि तुम्हे तृप्त कर पाऊ मुझ म सामर्थ्य कहा
कि अपने को नि स्व कर के भी
तुम्हे बाध नही पाऊगा,
और नही सोचूगा यह भी
कि आखिर तो तुम मुझे छोड चल जाओगे
जसे नदी का जल
दूहो को ताड कर
छोड चला जाता है
सोच छोड
हिचक छोड
दूगा मैं।

दता हूँ।

लो
यह लो
ओ तुम अनजाने अतिथि आज भर के।
लो यह पराग
जा अपनी अशक्ति में मात्र गुनगुनाहट है

पर जिसे दे कर
ये मेरे ओठ समाधि बन जायेंगे,
लो यह आग
जिसकी चिनगी में जलन तो क्या
ताप भी नहीं
पर जिसे दे कर
यह मेरी अस्थि विभूति बन जायेगी,

लो
मैं देता हूँ
अपना पराग राग
आग यह अपनी
जो मैं हूँ,
जो मेरा सर्वस्व है
(पर जो नगण्य है)
बेहिचक देता हूँ
मुट्ठी पर मुट्ठी भर अपने को रीता कर देता हूँ—
लो तुम
ओ अतिथि !
यह सेवा स्वीकार करो
भूल कर कि इससे तुम्हारा काम नहीं चलने का !

देता हूँ
क्योंकि तुम मेरे द्वार आये हो
और मेरे पास है देने का अपनापन,
देता हूँ
क्योंकि मैं जानता हूँ
कि तुम मुँह-अँधेरे से
इस गली के घर घर के द्वार पर

दस्तक दे-दे कर थक गये हो—
भीतर थी चहल पहल राग रग गज समारोह की
पर किसी ने सुनी नही तुम्हारी वह खटखटाहट
क्योकि सब ने सोचा कि तुम तो भिखारी हो
दीन हीन याचक
परोपजीवी,
पर म पहचानता हूँ
कि तुम अतिथि हो
तिथि से परे हो
इतिहास हो।

दूँगा मैं।



गिरिजाकुमार माथुर

[माथुर, गिरिजाकुमार जन्म १९१८में मध्यप्रान्तके एक कस्बेमें हुआ। लखनऊ विश्वविद्यालयसे अंगरेजी साहित्यमें एम० ए० तथा एल-एल० बी० पास किया। कुछ समय तक वकालत की उसके बाद नयी दिल्लीमें सेक्रेटरियेटमें काम किया अब आल इण्डिया रेडियोमें है।

कविताके अतिरिक्त एकांकी नाटक आलोचना ऑपेरा तथा शास्त्रीय विषयों पर लिखते रहते है। अन्य कलाओंमें संगीतका विशेष अध्ययन किया है। मंदार नामका एक कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुका है]

१९४३—

'मंजीर', 'नाश और निर्माण धूपके धान शिलापंख चमकीले आदि और कविता संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं और एक खण्ड काव्य 'पृथ्वी कल्प' और एक कविता-संग्रह अभिदक्षा "यथा' प्रकाशित होनेवाला है। बीचमें आकाशवाणी छोड़कर संयुक्त राष्ट्र रेडियोमें अमरीका चले गये थे जहाँ दो वर्ष रहे अब फिर आकाशवाणी में अधिकारी है।

वक्तव्य

विषय और टेक्नीक—कविताम विषयभ अधिक टकनीकपर ध्यान दिया ह। विषयकी मौलिकताका पक्षपाती होते हुए भी मरा विश्वास ह कि टकनीकके अभावम कविता अधूरी रह जाती ह। इसी कारण चित्रको अधिक स्पष्ट करनके लिए म वातावरणके रंग उसमें भरता रहा हूँ। कहीं कहीं केवल वातावरणके चित्रणम ही विषय इंगित किया ह। जसे कुतुब के खण्डहर अथवा रक्कर जाती हुई रात नामक कविताआमें केवल वहाका वातावरण चित्रित किया ह। प्रत्यक कवितामें प्रथम उसका आधार भूमि निर्माण करना आवश्यक समझता हूँ जसे रडियमकी छाया क्वारकी दोपहरी अथवा विजय-उषा नामक कविताओंके प्रथम बन्द ह। वातावरण चित्रणके डिटेल में मन रगोका आधार विशष रूपस रखा ह किन्तु म चित्रको सदा हल्के रगोके धुँधलेके आवरणमें लिपटा पसन्द करता हूँ। क्योंकि यथार्थ चित्रके सभी डिटेल म कलाको दूरस देखता रहा हूँ। मरा यह विश्वास ह कि अत्यधिक गहरे रगोका प्रयोग कलाम प्राचीनता (मडीवल टच) का द्योतक ह। क्लासिकल विषयोंपर गम्भीर शैली (ग्रण्ड स्टाइल) म लिखी कविताआम मन गहर रग प्राची नता लानके लिए ही रक्खे ह। यहाँ मन आधारभूमि विशालकाय कर दी ह और डिटेल कम। डिटेल मन रोमानी कविताआम ही अधिक भर ह। इसक अतिरिक्त म चित्रकलाकी तीन दूरियाँ चित्रके घनत्व (राउण्डिंग अप) क लिए यत्र-तत्र लाया हूँ।

भाषा और यजना—रोमानी कविताआम मन छोटी और मीठी ध्वनिवाले बोलचालके शब्द प्रयुक्त किये ह। रोमानी कविताए म हिन्दुस्तानी भाषाम ही लिखना पसन्द करता हूँ। क्लासिकल कविताआम आय-गण शब्दोंके लिए बड़ा लम्बा और गम्भीर ध्वनिवाले शब्द रखे ह। अभिव्यजनात्मक शब्द विन्यास वातावरणके रूप भावके अनुकूल नये बनाये ह—जसे पतझ नभ निमग्न किरन आदिम छाँहें घूमन स्वर आदि। क्योंकि म व्यजनाको वातावरणके लघु चित्र अथवा प्रतीकका रूप द देना हूँ। कहीं-कहीं नये शब्द वातावरणकी ध्वनि भाव लेकर बनाये ह जसे

सूनसान, सन्नाटा आदि। उदाहरणार्थ 'सूनसान' शब्द लीजिए। 'शून्यता', 'सूनापन', 'सुनसान' सभी शब्द उस ध्वनिभावके साथ निर्बल प्रतीत हुए। 'शून्य' में एक व्यापकता है, 'सूनापन' में दो स्वर ध्वनियोंकी तीव्रता बाद ही अन्तकी दो व्यंजन ध्वनियाँ गतिको समाप्त कर देता है रोक देती है। 'सुनसान' सबसे निर्बल है, क्योंकि इसमें केवल एक स्वर ध्वनि है, और आरम्भकी दो व्यंजन ध्वनियोंमें शब्द निर्गति है। 'सूनसान' में 'ऊ' की ध्वनि लम्बाई और दूरी व्यक्त करती है 'आ' की ध्वनि विस्तार। बीचमें 'न' की ध्वनि सनसनाहट और गहराई व्यक्त करती है। इस प्रकार सूनसान शब्दका ध्वनि भाव आ ऊ हो जाता है जो गहरे सुनसानका यथार्थ रूप है। इसी प्रकार अन्य शब्द भी हैं। विस्तारके कारण प्रत्येक नये शब्दका अर्थ नहीं दे सकता।

छन्द तथा ध्वनि विधान—कवितामें मुक्तछन्द ही पसन्द करता हूँ। मुक्तछन्दमें अधिकतर मैंने विरामान्त (एण्ड स्टॉप) पंक्तियाँ नहीं रखीं। धारावाहिक (रन ऑन) ही रखी हैं। आगत पंक्तिके आरम्भमें विगत पंक्तिकी ध्वनि मैंने संगीत उत्पन्न करनेके लिए वर्तमान रहने दी है। क्योंकि बिना इसके ध्वनि-सामंजस्य (सिम्फनिक कोऑर्डिनेशन) उत्पन्न नहीं हो पाता। इसी कारण मैं मुक्तछन्दमें संगीत प्रधान गीत सम्भव कर सका हूँ जिन्हें गाते समय तुककी आवश्यकता प्रतीत ही नहीं होती। जैसे पश्चिमकी छाया, वसन्त-पंचमी आदि हैं।

मुक्तछन्दका मैंने सम्पूर्ण विधान रचा है। मुक्तछन्दको दो भागोंमें विभक्त किया है वर्णिक और मात्रिक तथा इनके रूपान्तर। वर्णिकमें मैं कवित्तके विरामोंको उनके रूपान्तर-सहित लेकर चला हूँ। यह आवश्यक नहीं रखा कि कवित्तके पूर्ण विरामोंपर ही पंक्ति समाप्त हो किन्तु अर्ध विराम भी शुद्ध माने हैं जबतक वे अनुच्चरित (अन-एक्सेण्टेड) वर्णपर समाप्त न होकर उच्चरित (एक्सेण्टेड) पर समाप्त होते हों। इस भाँति कवित्तके विरामोंको लेकर कितने ही प्रकारकी मुक्तछन्द-पंक्तियाँ निर्मित की हैं। सवैयेके विरामोंपर स्थित एक नये प्रकारका बहुत संगीतमय मुक्तछन्द लिखा है (आज है केसर रंग रंगे)। एक कवितामें एक ही प्रकारका मुक्तछन्द प्रयुक्त होना आवश्यक समझता हूँ। यदि उच्चरित वर्ण-चिह्न (सिम्बल) से पंक्ति आरम्भ हुई हो तो समस्त पंक्तियाँ उच्चरितसे ही प्रारम्भ होनी चाहिए। विरामान्त पंक्तियोंमें यह नियम अनिवार्य कर दिया है। धारावाहिक पंक्तियोंमें भी प्रथम पंक्तिका

अध विराम द्वितीय पक्तिमे रखना नियम रखा है। पक्तियाके विरामाकी ध्वनि-मात्राए पूर्णत सम एव शुद्ध होना अत्यन्त आवश्यक समझता हूँ। इन नियमोके विरुद्ध लिखा गया सवनछन्द अशुद्ध मानता हूँ।

ध्वनि विधानमे मेरे प्रयोग मुख्यत स्वर ध्वनियोके है। व्यजन ध्वनियोसे उत्पादित सगीतको मै कविताका सगीत नहीं मानता। प्रत्युत रीति-कालीन रूढि समझता हूँ। छायावादी कवियोमे इसी कारण मै कोई सगीत नहीं देखता क्योकि उनका सगीत व्यजन ध्वनियोसे निर्मित है। और व्यजन ध्वनियोका सगीत बाह्य अस्थायी एव मृत है। वह आकार का सगीत है शब्दकी आत्माका सगीत नहीं। शब्दकी आत्मा स्वर ध्वनि है इसी कारण उसपर अवलम्बित सगीत आतरिक गम्भीर और स्थायी है। यह आकाश तत्त्वका सगीत है। वातावरण निर्माणमे मने इसीकी सबसे अधिक सहायता ली है। सवनछन्दके अन्त सगीतमे इन्हीं ध्वनियोका गर्जे बुनी है। इसी नियमको लेकर मने स्वर ध्वनियोका मूल्याकन किया है। मने छहो स्वरोके सम्पूर्ण प्रभावोको लेकर उनका निश्चित रूप एव आकार निर्धारित किया है। आ ध्वनिका रूप है विस्तार इ ध्वनिका रूप है अनत ऊचाई ऊ ध्वनिमे दूरी ए ध्वनिमे ऊर्ध्वगति आ ध्वनिमे वस्तुका नाम तथा भीम प्रवाह और ऊ मे गहराई और गाम्भीर्य है। इस मूल्याकनके बलपर मने विभिन्न वातावरण निर्माण किये है। जहाँ जिस वस्तुका इगित करना होता है वहा उस ध्वनिका उतना ही प्रमाण है। इस प्रकार न केवल वर्णनसे ही दृश्य स्पष्ट किया है किन्तु ध्वनियोसे भी उनका चित्र खीचा है। इन स्वरोकी शक्ति, स्वरूप और रग तथा उनका प्रभाव गुण स्थापित किया है। प्रत्येक स्वरके स्वरूपपर कविताए लिखी है। क्योकि मेरा विश्वास है कि स्वर ध्वनिया आकाश तत्त्वके विभिन्न रूपान्तर है।

—गिरिजाकुमार माथुर

आज हैं केसर रग रँगे वन

आज हैं केसर रंग रँगे वन
रंजित शाम भी फागुन की खिली पीली कली सी
केसर के वसना म छिपा तन
सोने की छाह सा
बोलती आखो म
पहिल वस त के फूल का रग है।
गोरे कपोला पै हौल से आ जाती
पहिले ही पहिले के
रंगीन चुम्बन की-सी ललाई।
आज हैं केसर रग रँगे
गृह, द्वार, नगर, वन
जिनके विभिन्न रँगा म है रग गया
पूनो की च दन चाँदनी।

जीवन म फिर लौटी मिठास है
गीत की आखिरी मीठी लकीर-सी
प्यार भी डूबेगा गोरी-सी बाँहा म
ओठा म, आँखा म
फूलो म डूबे ज्या
फूल की रेशमी रेशमी छाँह।
आज हैं केसर रंग रँगे वन।



रुक कर जाती हुई रात

रुक कर जाती हुई रात का
अन्तिम छाहा भरा प्रहर है
श्वेत धुएँ से पतल नभ म
दूर झावरे पडे हुए सोने-से तारे
जगी हुई भारी पल्का से पहरा देत
नीद भरी मन्दी बयार चलती है
वर्षा भीगा नगर
भार के सपने देख रहा है अब भा
लम्बे-लम्बे धुँधल राजपथो म
निशि भर जली रोशनी की
कुछ थकी उदासी मँडराती है।
पानी रगे हुए बँगलो के वातायन से
थकी हुई रगीनी म डूबा प्रकाश अब भी दिख जाता
रेशम पर्दों, सेजो, निद्रा भरे बन्धना की छाया सा।

बुझी रात का अभी अखीरी पहर नही उतरा है,
दूरी के रेखा उाहा से पेडा ऊपर
ठण्डा-ठण्डा चाद ठिठक कर मन्दा होता
नभ की लम्बी साया दूरी तक पडती है।



चूडी का टुकडा—

आज अचानक सूनी सी सन्ध्या मे
जब मैं यो ही मैले कपडे देख रहा था
किसी काम म जी बहलाने
एक सिल्क के कुर्ते की सिलवट म लिपटा
गिरा रेशमी चूडी का छोटा सा टुकडा
उन गोरी कलाइयो मे जो तुम पहिने थी
रग भरी उस मिलन रात म ।
मैं वैसा का वैसा ही रह गया सोचता
पिछली बातें
दूज कोर से उस टुकडे पर
तिरने लगी तुम्हारी सब लज्जित तसवीरें
सेज सुनहली
कसे हुए बन्धन म चूडी का झर जाना ।
निकल गयी सपने जैसी व रातें
याद दिलाने रहा सुहाग भरा यह टुकडा ।

रेडियम की छाया—

सूनी आधी रात
चाद-कटोरे की सिकुडी कारा से
मन्द चादनी पीता लम्बा कुहरा
सिमट लिपट कर।

दूर दूर के छाह भरे सुनसान पथो म
चलने की आहट ओस सी जमी पडी थी
भूरे पेडो का कम्पन भी ठिठुर गया था
कभी कभी बस
पतझर का सूखा पत्ता गिर कर उड जाता
मरे स्वरो स खर खर करता।

प्रथम मिलन के उस ठण्ड कमरे म
छत के वातायन म
नीद भरी मन्दो सी एक किरन भी
थक कर लौट-लौट जाती थी
आलस भरे अधेरे म
दो काली आखो सी चमकीली
एक रेडियम घडी सुप्त कोने म चलती
सूनेपन क हल्के स्वर सी।
उन्ही रेडियम क अको की लघु छाया पर
दो छाहो का वह चुपचाप मिलन था
उसी रेडियम की हल्की छाया म
चुपके का वह रुका हुआ चुम्बन अकित था

कमरे की सारी छाहों के हल्के स्वर-सा
पडती थी जो एक दूसरे म मिल-गुँथकर ।
सूनी सी उस आधी रात ।

कुतुब के खडहर—

समल की गरमीली हल्की रई समान
जाडा की धूप खिली नाल आसमान म
धाडी-झुरमुटा स उठे लम्बे मदान म ।
रूखे पतझर भरे जगल के टीला पर
काँप कर चलती समीर हेमन्त की
लम्बी लहर सी ।
दूरी के ठिठुरे-स भूरे भूरे पडा पर
ठण्ड बबूल बना धूल छा जाती थी—
रतील परो से धीरे ही दाब कर
काई से काल पडे ध्वस राजमहलो को
पत्थर के डर बने म दर मजारो को
जिन से जब रोज साम कुहरा निकलता था
प्यासे सपना की मँडराती हुई छाह सा ।
गू जता था सूनसान—
ऊजड खण्डरो म
गिरत थे पत्ते,
वन पछी नही बोलत थे,
नाल की धार किनारे से लगी जाती थी ।



क्वाँर की दोपहरी

क्वार की सूनी दुपहरी,
श्वेत गरमीले रुए-से बादलों में,
तेज सूरज निकलना फिर डूब जाता।
घरों में सुनसान आलस ऊँघता है
थकी राह ठहर कर विश्राम करती,
दूर सूनी गली के उस छोर पर से
नीम नीचे खेलते कुछ बालकों की
मिली-सी आवाज आती

रिक्त कमरे की उदासी बढ़ रही है
दूर के आते स्वरों से।
दूर होता जा रहा हूँ मैं स्वयं ही—
पास की दीवाल पर के चित्र सारे
शून्य द्वारों पर पड़े रंगीन पर्दे
वायु की सांसों भरी एकान्त खिड़की
वह अकेली सी घड़ी
वह दीप ठण्डा
और रातों जगा वह सूना पलँग भी
दूर होता जा रहा है दूर कितना।
लग सका है कुछ न अपना
जिन्दगी भर दूर ही रहना पड़ा है,
प्यार के सारे जगत से।

थक रही है क्वाँर की सूनी दुपहरा,
श्वेत हल्के बादलों म सूय टगा
नीम-नीचे बालका का स्वर मिला सा छा रहा है
धूल पैरा मे हवा म उड रही है।
बालका सा खेलता मैं जिन्दगी म
किन्तु साथी दूर पर बिछुडा हमारा!



भीगा दिन

भीगा दिन पश्चिमी तटो मे उतर चुका है,
बादल-ढकी रात आती है
धूल भरी दीपक की लौ पर मन्दे पग धर।
गीली राह धीरे धीरे सूनी होती
जिन पर बोझल पहिया के लम्बे निशान हैं
माथे पर की सोच भरी रेखाओ जैसे।
पानी रगी दिवालो पर सूने राही की छाया पड़ती
पैरा के धीमे स्वर मर जाते हैं
अनजाती उदास दूरी मे।

सील भरी फुहार-डूबी चलती पुरवाई
बिछुड़न की रातो की ठण्डी ठण्डी करती
सोये सोये लुटे हुए खाली कमरे म
गज रही पिछल रगीन मिलन की याद
नी भरे आलिगन म चूड़ी की बिसलन
मीठ अधरा की व धीमी धीमी बातें।

और भी ठण्डी बरसात अकेली आती
दूर-दूर तक भीगी रात घनी होती है
पथ की म्लान लालटेना पर
पानी की बूदें लम्बी लकीर बन चू चलती ह
जिनके धीयल उजियाल क आस-पास
सिमट सिमट कर सूनापन है गहरा पड़ता,

—दूर देश का आसू घुला उदास वह मुखड़ा—
याद भरा मन खो जाता है
चलने की दूरी तक आती हुई थकी आहट म मिल कर।



एसोसिएशन

कुछ सुनसान दिनो को,
और चादनो से ठण्डो-ठण्डी राता को
पन्ना की दुनिया से भी हम दूर हुए थे
आज तुम्हारा सूना-सा सन्देश मिला है,
प्यार दूर का।
मान गव के दो दिन अभी बिताये मैंने
गीतो के उस मेल म।
मेल मुझ ल कर उडती जाती थी,
रग भरे पानी से चलते उन डिब्बा की एक कोच पर,
सनसन-सनसन वायु वग से
घनी वन्य नदिया से छन म पार उतर कर
पीछे छोड नगर ग्रामा को
कितनी ही पवन माला की घूमो म से।
एक सीध म वनो खिडकिया म से हो कर
कमरो का विद्युत् प्रकाश बाहर पडता था
तेजी से चलती लम्बी लकीर बन-बन कर
सून-सून करते उन पीछे उडते मदाना म,
हल्के चाद भरे जा अनजानो दूरी तक
वन-फूला की मादी सी सुगन्ध में डूबे।
लेकिन मैं जाने कितने पीछ चलता था,
एक बरस पहिले की इन ठण्डी आला म--
इसी तरह का वह रगीन दूसरा दर्जा
वायु-वेग स चलता जाता।

जब दूरी तक फैले-फैले,
वन, पवत, मैदान उतर कर,
लम्बी, लम्बी सी तेजी से--
तुम उस रेशम-सज-बीच पर,
दख रही उडती पहाडिया खिडकी म से
एक हाथ पर चिबुक टिकाये ,
साथ-साथ ही,
वह पहले पियार की यात्रा ।
आज दूर हो,
प्राणा स, तन से पीडित हो—
मेरी सूना-सी आँखें हैं,
सूना सा मेरा घर, आगन ।
चहल पहल है नगर बीच,
दूर तुम्हारे दश यही सब होता होगा—
यही धूप, उजली कुआर की यही धूप भी
पछी, वायु, यहा नभ, बादल ।
—सून-सून करत मदानो म-स हो कर,
मेल जायगी निज लम्बी-लम्बी तजी स
प्रतिदिन की ही भाँति आज भी ।

विजय दशमी

आसमान की आदिम छायाओं के नीचे
दक्षिण का वह महासिन्धु अब भी टकराता
सेतुबन्ध की श्यामल बहती चट्टानों से।
आखों में वह अन्तरीप के मन्दिर की चोटी उठती है,
जिस पर रोज़ सांझ छा जाती
युग युग रंजित लाल सुनहले पीले बादल
एक पुरातन तूफानी सी याद दिला कर,
जब, अविलम्ब अग्नि शर चाप उठाते ही में
नभ चुम्बी काले पर्वत सा ज्वार मिटा था।
संस्कृतियों पर संस्कृतियों के महल मिट गये,
लौह नींव पर खड़े हुए गढ़ दुर्ग मिनारें
दृढ़ स्तम्भ आधार भग्न हो
गिरे विभिन्न निशान नास्ति के केतन डूबे।
महाकाल के भारी पावों से न मिट सके,
चित्रकूट किष्किन्धा नीलगिरी के जंगल,
पंचवटी की गुँथी हुई अलसायी छाँहें
वाल्मीकि के मृत्युंजय स्वर ले अपने पर
सरयू गोदावरी नील कृष्णा की धारा।
प्रति भर इस यन्त्रकाल में
आज कोटि युग की दूरी से यादें आतीं
शम्भु चाप से अविछिन्न इतिहास पुराने
और वज्र विद्युत् से पूरित अग्नि-नयन वे
जिनमें भस्म हुए लंका-से पाप हज़ारों।